लोभ, दान व दया

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक :
रामायणम् ट्रस्ट
रामायणम् आश्रम, परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट
श्रीधाम अयोध्या-224 123
फोन - (05278) 232152

सन् 2007, श्री गुरुपूर्णिमा, सम्वत् 2064

© सर्वाधिकार सुरक्षित
रामायणम् ट्रस्ट, श्रीधाम अयोध्या

संशोधन : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

मूल्य : 35/-

मुद्रक : गोसपेल प्रेस, लखनऊ
फोन : +91522-4007705
ई-मेल : gospel_paperprint@yahoo.co.in

अनुवचन

श्रीरामचरितमानस में राम-रावण संघर्ष सर्वथा भिन्न परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। विश्व के रंगमंच पर ईश्वर ने एक ऐसे नाटक को प्रदर्शित करने का निर्णय किया जिसके द्वारा मनुष्य के अन्तर्जीवन की समस्याएँ बाह्य रूप में प्रस्तुत की जायँ। अतएव भगवान् के ही पार्षद जय एवं विजय इस नाटक में रावण एवं कुम्भकर्ण के रूपों में अवतरित होतें हैं। इस प्रकार नाटक समाप्त होने के उपरान्त ये दोनों अभिनेता पुनः प्रभु के पवित्र धाम में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मोह एवं अहंकार का उदय हमारे अंतःकरण को किन-किन समस्याओं द्वारा आक्रान्त कर देता है, रावण एवं कुम्भकर्ण के माध्यम से यही परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने आपमें ही संघर्षरत है एक ओर यह दशेन्द्रियों में भोगासक्त होकर निरंतर विषयों का सुखानुभव कर रहा है। यही भोगासक्ति मूल रूप से परोत्पीड़न वृत्ति की जन्मदात्री है। दूसरी ओर जीव सच्चिदानंद ईश्वर का अंश होने के कारण स्वयं आनन्दमय है। अतएव अपने आत्मस्वरूप को पहचानकर वह स्वयं में रमण करने वाला आत्माराम बन जाता है। देहवाद एवं भोगासक्ति द्वारा जिस छलनावृत्ति का जन्म होता है उसी के द्वारा वह दूसरों के स्थान पर स्वयं को ही छल रहा है। इसे वह नहीं जान पाता। रावण भी शांतिस्वरूपा श्रीसीताजी का अपहरण करते हुए इसी भ्रान्ति का आखेट हुआ। वह यही नहीं जान सका कि इस अपहरण में वह स्वयं का विनाश आमन्त्रित कर रहा है। श्रीसीताजी तो जगन्माता हैं। व्यक्ति को उनकी आराधना पुत्ररूप में करनी चाहिये। किन्तु दशेन्द्रियवादी भोगासक्त होने के कारण जगज्जननी के प्रति भी वही दृष्टि रखता है। वह यह नहीं जान पाता कि वास्तविक शांति भोगों के परित्याग में है, न कि उनके ग्रहण में।

आज भी मोह संसार में समाज का सबसे प्रबल शत्रु है। अतः

गोस्वामीजी दरिद्रता को भी मोह का वंशज ही मानते हैं-

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।।

वास्तव में व्यक्ति अथवा समाज तब तक सुखी एवं संतुष्ट नहीं हो सकता जब तक उसकी अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की दीनता, दरिद्रता का पूर्ण विनाश नहीं हो जाता। अतएव हमारा सारा प्रयास उसी दिशा में केन्द्रित होना चाहिये।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मोह से उत्पन्न लोभ के शूल की सूत्रात्मक व्याख्या है। वर्तमान युग में लोभ का दनुजेश जिस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्जीवन को उत्पीड़ित कर रहा है, इसमें श्री अशोक गुप्ताजी के द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये श्रद्धायुक्त अर्थ-सेवा, अर्थ दान उसी दनुजेश के शमन का एक सत् प्रयास है। पूर्व में भी श्री गुप्ताजी के द्वारा अनेक सेवाएँ होती रही हैं। उनकी और उनके समस्त परिवार के प्रति मेरा हार्दिक आशीर्वाद - प्रभु उन्हें सुमति, शांति, भक्ति, प्रीति प्रदान करें!

डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी एक ऐसे भक्त पुरुष हैं जिनका समर्पण अनुकरणीय है, जिस लगन से वे यह श्रमसाध्य कार्य संपन्न करते हैं, वह स्तुत्य है। रामायणम ट्रस्ट के सभी ट्रस्टीगण पर जो उत्तरदायित्व है वे बड़ी जिम्मेदारी से उसका निर्वहन कर रहे हैं, उन्हें भी मेरा आशीर्वाद! मंगलकामना!! श्री नरेन्द्र शुक्ल मेरी सेवा निष्ठा पूर्वक करते रहे, मेरे अपने हैं।

अंत में उस महद् शक्ति, विराट् पुरुष के प्रति मेरा नमन! जिनके प्रकाश से सम्पूर्ण संसार आलोकित है -

त्वदीयं वस्तु श्रीराम तुभ्यमेव समर्पये।

सादर,

परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी की ओर से

मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

श्री गुरु चरणों में समर्पित

परम पूज्य श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् के जब मुझे प्रथम बार दर्शन हुआ उनके देदीप्यमान मुखमंडल का दर्शन करके मेरा हृदय सहज ही उनकी ओर आकर्षित हुआ, तो उनकी विलक्षण वाणी सुनकर अंतःकरण झंकृत हो गया और उनका स्वभाव अनुभव करके जीवन को एक दिशा, एक आदर्श स्तम्भ मिल गया।

परम पूज्य महाराजश्री के प्रति मेरी और मेरे परिवार की ऐसी प्रीति लगी कि मैं प्रत्येक वर्ष गुरुपर्व पर रामायणम् आश्रम श्रीधाम अयोध्या जाकर उनका दर्शन, उनका आशीर्वाद प्राप्त कर एक नयी आत्मिक शांति एवं शक्ति प्राप्त कर धन्यता का अनुभव करता रहा हूँ और यह क्रम अंत तक चला, जब श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् समाधिस्थ हुए, उन दिनों भी मैं श्रीधाम अयोध्या आश्रम में ही था। उनके समाधिस्थ होने के पश्चात् आज भी श्रीगुरुधाम में उनकी कृपामूर्ति का जब-जब दर्शन करता हूँ तो यही अनुभूति होती है कि महाराजश्री यहीं पर साक्षात् रूप में बिराजमान् हैं, हमे छोड़कर कदापि नहीं गये।

परम पूज्य महाराजश्री का चिन्तन तो अमर है ही। वे उन अमर महापुरुषों में हैं जो अपने शिष्यों, भक्तों के हृदय के संशय-संदेह को अपने लीलादर्शन के द्वारा समूल नष्ट कर देते हैं, क्योंकि जीव में अखण्ड विश्वास हो ही नहीं सकता। केवल गुरु-कृपा के द्वारा ही सही दृष्टि मिल सकती है।

परम पूज्य महाराजश्री की कृपा दृष्टि हमें मिली हमारा सम्पूर्ण परिवार पूर्णतः उनके प्रति समर्पित है। आशा है जहाँ भी यह पुस्तक जायेगी लोगों के जीवन को समुन्नत करेगी। मैं परम पूज्य महाराजश्री की आध्यात्मिक उत्तराधिकारी एवं रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्षा परम पूज्य दीदी माँ मन्दाकिनीजी के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने हमसे यह सेवा लेकर यह गौरव प्रदान किया, उनका स्नेह, वात्सल्य हमें निरंतर प्राप्त होता रहे, यही परम पूज्य गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना है।

श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् के चरणों में कोटिश प्रणाम।

श्री अनिल एवं श्री अशोक गुप्ता
रायपुर

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	अनुवचन	3
2.	श्री गुरुचरणों में समर्पित	5
3.	लोभ	7
4.	दया व दान	18
5.	साहित्य-सूची	48

।। श्री रामः शरणं मम।।

लोभ

यह मानव-जीवन जो है वह कभी समस्याओं से मुक्त नहीं होता। नित्य जीवन में हम देखते हैं कि भूख लगना एक स्वाभाविक क्रिया है और भूख न लगना एक रोग माना जाता है। भूख लगने पर व्यक्ति के सामने भोजन की समस्या आयेगी, भोजन मिल जाय तो उसके साथ स्वाद की समस्या, तृप्ति की समस्या और वह भोजन रोग पैदा न करके स्वास्थ्य प्रदान करे आदि अनेक समस्याएँ भोजन के साथ जुड़ी हुई हैं। यह बड़ी विचित्र सी बात है - भूख न लगे यह भी रोग है, भूख लगे पर स्वाद न हो तो भोजन अच्छा नहीं लगेगा। स्वादिष्ट भोजन हो और अधिक भोजन कर लिया जाय तब रोग हो जायगा। इसका अर्थ यही है कि संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें समस्या हो ही नहीं। जब समस्या होती है तो फिर व्यक्ति उस समस्या का समाधान खोजने का यत्न करता है।

मानव जीवन की जो अनेकानेक वृत्तियाँ हैं गोस्वामीजी ने उनका बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है, यह विश्लेषण बड़ा मनोवैज्ञानिक है बड़ा उपादेय है। इसके लिये उन्होंने आयुर्वेद की पद्धति का आश्रय लिया है। आयुर्वेद शास्त्र की पद्धति पुरानी है पर आजकल फिर से उसके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ रहा है। इस पद्धति की मान्यता है कि व्यक्ति के शरीर का संचालन जिन त्रिधातु अथवा त्रिदोष के द्वारा होता है, वे हैं - वात, पित्त और कफ। वैद्य नाड़ी देखकर पता लगाते हैं कि अस्वस्थ व्यक्ति की इन तीनों में से कौनसी नाड़ी प्रबल है। इस निदान के बाद वैद्य दवा बताते हैं तथा पथ्य बताते हैं जिससे व्यक्ति के रोग का उपशमन हो जाता है। यद्यपि यह तो कहा नहीं जा सकता कि वह रोग फिर कभी नहीं होगा पर उस समय उस विकार के संतुलन होने से रोग शान्त हो

जाता है।

गोस्वामीजी ने कहा कि जैसे वात, पित्त और कफ के द्वारा शरीर संचालित होता है, उसी प्रकार काम, क्रोध और लोभ इन तीनों के द्वारा हमारा मन भी संचालित होता है, और उन तीनों के असंतुलन से जिस प्रकार शरीर रोगी होता है ठीक उसी प्रकार इन तीनों के असंतुलन से व्यक्ति का मन भी रोगी हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि-

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।। ७/१२१/३०

काम बात है, कफ लोभ है और क्रोध ही पित्त है। वैद्य यह चेष्टा तो नहीं करेगा कि इन्हीं तीनों से रोग उत्पन्न होता है, अतः इनको ही मिटा दिया जाय क्योंकि वह जानता है कि इससे रोग क्या स्वयं रोगी ही नष्ट हो जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि काम, क्रोध और लोभ के बिना समाज चल ही नहीं सकता। इन तीनों के संतुलन में जीवन है, असंतुलन में रोग है और अतिशय असंतुलन में मृत्यु है। यह बात मन और शरीर दोनों के संदर्भ में समान रूप से सत्य दिखायी देती है।

हम यदि विचार करके यह देखें कि व्यक्ति के जीवन में जो कर्म हो रहा है, उनका संचालन कौन कर रहा है? तो हम कह सकते हैं कि इसके मूल में कामना है, जो काम का ही रूप है। संसार के सृजन के मूल में भी काम ही है। इसी प्रकार से पित्त ही भोजन को पचाता है पर जब उसका अतिरेक हो जाता है तब जलन होने लगती है। इसीलिए क्रोध की तुलना पित्त से की गयी है। जीवन में, समाज में हम देखते हैं कि निर्माण और संहार दोनों की ही आवश्यकता है। नये के निर्माण के लिये ध्वंस भी अपेक्षित है। पुराने जीर्ण-शीर्ण मकान को गिराकर नये मकान का निर्माण किया जाता है।

समाचार पत्रों में आता है कि मुम्बई में पुराने मकानों में लोग रह रहे हैं, मुम्बई में आवाज की समस्या बड़ी जटिल है। उन पुराने मकानों के विषय में यह भय लगा रहता है कि वे किसी भी समय गिर सकते हैं। लोगों से उन्हें छोड़ने का, खाली कर देने का आग्रह भी किया जाता है पर समस्या के रहते वे सोचते हैं कि कहाँ जायँ और इसलिये चेतावनी को वे दृष्टिगत नहीं रख पाते। फिर पता चलता है कि उनमें से कोई

मकान ढह गया है।

तो एक स्थिति है कि मकान अपने आप ढह गया और दूसरी स्थिति है कि उसे ढहा दिया गया। क्रोध भी इसी तरह कभी-कभी एक आवश्यकता के रूप में हमारे सामने आता है। बुराइयों को मिटाने के लिये क्रोध के द्वारा दण्ड दिया जाता है। अतः क्रोध भी चाहिये, कोई भूल कर रहा है, अनर्थ कर रहा है तो जब उसे समाज या क़ानून दण्डित करता है तो उसके पीछे क्रोध का यही रूप होता है।

इसी प्रकार से समाज में जितनी उन्नति होती है, उसके मूल में लोभ होता है। अभी एक सज्जन कह रहे थे कि यदि संतोष हो जाय तो उन्नति बंद हो जायगी। यह बात ठीक है क्योंकि लोभ होने से ही उन्नति होती है पर उन्नति होने से, लाभ होने से देखा जाता है कि फिर लोभ भी बढ़ जाता है और इस तरह यह एक जटिल समस्या के रूप में हमारे सामने आती है, यह न हो तो कठिनाई और हो तो भी कठिनाई है। इसलिये इसका विश्लेषण इस रूप में नहीं किया जाना चाहिये कि लोभ एक निन्दनीय वस्तु है। इसलिये किन्हीं लोभ की निन्दा की गयी है तो अन्य किन्हीं प्रसंगों में इसकी अपेक्षा भी बतायी गयी है, प्रशंसा भी की गयी है।

जहाँ लोभ की प्रशंसा की गयी है उसे इस रूप में बताने की चेष्टा की गयी है कि समाज में जो उन्नति होती है वह असंतोष के द्वारा होती है। ऐसी स्थिति में लोभ निर्माण और उन्नति के पथ में सहायक है पर यही लोभ की वृत्ति जब संघर्ष उत्पन्न करती है, टकराहट का कारण बनती है, तो ऐसी स्थिति में यह अशान्ति और दुःख की सृष्टि करती है और तब तक वह निंदनीय बन जाती है। लोभ के संदर्भ में यह बड़े महत्त्व का सूत्र है इसे रामायण में अनेक रूपों में स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। नीतिशास्त्र में भी एक वाक्य आता है जिसमें कहा गया है कि -

अतिलोभो न कर्तव्यः लोभं नैव परित्यजेत्।

अर्थात् अतिलोभ नहीं करना चाहिये, पर लोभ का परित्याग भी नहीं करना चाहिये पर कठिनाई यह है कि लोभ और अतिलोभ के बीच में विभाजक रेखा कहाँ पर है? कोई दीवार होती तो निर्णय कर लेते कि

अब उस पार न जायँ। अतः इन बातों के कहने का तात्पर्य यही है कि समाधान पाने के लिये सावधान रहकर विचार करने की आवश्यकता है। और विचार करने के बाद यथासंभव उसे जीवन में उतारने की भी चेष्टा करें।

रामायण के अनेक प्रसंगों में तथा विनय-पत्रिका में भी इसे अनेक संकेतों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। विनय-पत्रिका के एक पद में गोस्वामीजी ने यह कहा कि हमारे जीवन में तीन अवतारों की आवश्यकता है। क्यों आवश्यकता है? इसे बताते हुए वे तीनों अवतारों से जुड़े तीन दृष्टान्त देते हैं।

पुराणों में एक कथा आती है कि हाथियों का एक झुण्ड पानी पीने के लिये एक विशाल सरोवर की ओर जा रहा था। हाथी समूह में रहने के ही अभ्यस्त होते हैं। यही देखा जाता है कि ये समूह में रहने में ही ठीक रहते हैं। जो हाथी समूह से अलग हो जाता है वह बहुत भयावह हो जाता है। ऐसे अकेले हाथी को 'इक्कड़' कहा जाता है। वह इतना खूँखार हो जाता है कि जिस क्षेत्र में इक्कड़ हाथी के होने की बात कही जाती है उस मार्ग से लोगों व सवारियों का आना-जाना तक बंद हो जाता है। आसाम में मैं प्रवास पर था तो एक स्थान पर सब गाड़ियों को रोक दिया गया। पूछने पर पता चला कि आगे आने में खतरा है क्योंकि उधर इक्कड़ हाथी देखा गया है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि हाथी समूह में जल पीने गये और सरोवर पर जाकर प्रसन्नता से जल पीने लगे, विहार-किल्लोल करने लगे। उस सरोवर में एक ग्राह (मगर) भी रहता था। उस मगर ने उन हाथियों के समूह के अधिपति का पैर पकड़ लिया और उसे जल में भीतर खींचने लगा। हाथी, वैसे तो जमीन पर बड़ा सामर्थ्यवान् होता है पर जल में उसकी शक्ति काम नहीं कर पाती। उसके समूह के अन्य हाथियों ने उसकी पूँछ पकड़कर उसे बाहर खींचने की चेष्टा की पर वे सफल नहीं हो सके। वह हाथी गहरे पानी की दिशा में खिंचता चला गया। साथी हाथी कहीं हम भी न डूब जायँ, ऐसा सोचकर डर गये और उसे छोड़कर अलग हो गये। उस हाथी ने जब देख लिया कि न तो उसमें सामर्थ्य है और न ही कोई सहायक है तो वह भगवान् से प्रार्थना करता है। उसने

उस सरोवर से एक कमल का फूल तोड़ लिया और नारायण को सहायता के लिये पुकारने लगा। भगवान् आये और उन्होंने ग्राह का वध करके उस गज का उद्धार किया। श्रीमद्भागवत पुराण में यह प्रसंग आता है और 'गजेन्द्र-मोक्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। यदि किसी पर बहुत अधिक ऋण हो जाय तो उसे ऋणमुक्त होने के लिये इस प्रसंग के पाठ करने की सलाह दी जाती है। यह एक आस्तिक-परम्परा है।

गोस्वामीजी प्रभु से कहते हैं कि यही समस्या मेरे जीवन में भी है। जैसे आपने ग्राह का वध करके गज का उद्धार किया था, वैसे ही मेरा भी उद्धार कीजिये।

दूसरी कथा आती है हिरण्यकशिपु की जो अपने ही पुत्र प्रह्लाद को मारने को तत्पर हो जाता है। प्रभु ने हिरण्यकशिपु का भी वध किया। तीसरी कथा आती है दुश्शासन की जिसने दुर्योधन के संकेत पर भरी सभा में द्रोपदी को नग्न करने की चेष्टा की। गोस्वामीजी ने कहा- महाराज! मेरे जीवन में ये तीनों समस्याएँ विद्यमान हैं। वे कहते हैं-

लोभ ग्राह, दनुजेस क्रोध, कुरुराज बंधु खल मार।

प्रभु! मेरे जीवन में लोभ का ग्राह, क्रोध का हिरणकशिपु और काम का दुश्शासन, ये तीनों ही विद्यमान हैं। आपने तीन अवतार लेकर तीनों कालों में इन सबका समाधान किया था। अब मेरे जीवन में भी अवतार लेकर इन समस्याओं का समाधान करने की कृपा करें!

गोस्वामीजी ने 'लोभ' को ग्राह कहा यह बड़ा सार्थक दृष्टान्त है। जीवन में जल की आवश्यकता है उसके बिना काम नहीं चल सकता। हाथी का समूह में रहना मानो समाज में परिवार के रूप में इकट्ठे रहने की ओर संकेत करता है। व्यक्ति परिवार में रहने से ठीक भी रहता है, अकेला होने पर इक्कड़ हाथी की तरह उसके भी उच्छृंखल होने का भय बना रहता है। परिवार में रहने पर सबको एक साथ लेकर चलने में संतुलन बना रहता है। पर अकेला रहने पर चाहे जैसा व्यवहार कर सकते हैं। तो मानो जल ही धन है, हाथी जीव का प्रतीक है जो अपने परिवार के साथ रहकर धन प्राप्त करना चाहता है पर समस्या यही है कि अर्थ के सरोवर में लोभ का ग्राह बैठा हुआ है।

इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति जब अर्थ की दिशा में बढ़ता है

तो लोभ उसे अपनी ओर खींचने लगता है। जब तक लाभ होता है परिवार वाले साथ देते हैं पर जब डूबने की आशंका उत्पन्न हो जाती है तो वे भी साथ छोड़ देते हैं। तब उस स्थिति में व्यक्ति ईश्वर से प्रार्थना करता है कि प्रभु! मैं अपनी रक्षा में असमर्थ हूँ, आप कृपा करके मेरी रक्षा करें। गोस्वामीजी ने इस प्रकार विनय-पत्रिका में इसे एक आध्यात्मिक रूप दिया।

समाज में, संसार में धन के बिना काम व्यवहार चलता नहीं। जो धन की निंदा करते हैं वे भी धन को लेने के लिये बाध्य हैं। अतः धन तो अवश्य चाहिये पर यह सावधानी भी आवश्यक है कि कहीं लोभ हमें पकड़ न ले। हम कहीं लोभग्रस्त न हो जायँ। गोस्वामीजी ने मानो यही संकेत किया कि लोभ का आश्रय लेकर उन्नति करें, आगे बढ़ें पर लोभग्रस्त न हों, क्योंकि तब अग्रसर होने के स्थान पर डूब जाने का संकट आ जायेगा तो ऐसी स्थिति में हम क्या करें? भाषण से हमें यह ज्ञात हो जाता है पर इससे छूटें कैसे? इसका अर्थ है कि तब हम भगवान् से ही प्रार्थना करें।

हम यह तो नहीं कह सकते कि हम अर्थ चाहते ही नहीं। जीवन में लाभ को स्वीकार करने की बात भगवान् राम अपनी नवधा-भक्ति के उपदेश में कहते हैं पर उस लाभ को लोभ के स्थान पर संतोष की दिशा में ले जाने की बात कहते हैं। भगवान् राम शबरी से यह कहती हैं कि -

आठवँ जथा लाभ संतोषा।

जितना लाभ हो, जितना प्राप्त हो जाय उतने से ही संतुष्ट हो जाना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि भक्त को कुछ नहीं चाहिये तो यह पाखंड हो जायगा। जद्यपि लाभ की स्वीकृति आठवीं भक्ति में है पर संतोष की बात बड़ी कठिनाई से जीवन में आती है। मानो आठवें क्रम में इसे रखने का यह भी संकेत है।

लोभ और लाभ का एक काल्पनिक आनन्द भी है। आप देखेंगे! दोनों शब्दों में अक्षर एक ही है ल और भ। पर दोनों में मात्रा का अंतर है। अ वर्ग की पहली मात्रा से जुड़कर लाभ बनता है। पर जब मात्र आ इ ई से बढ़ते-बढ़ते ओ तक पहुँचता है तब लोभ बन जाता है।

कई लोग यह भ्रम पाल लेते हैं कि जो अच्छे लोग होते हैं उन्हें धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है और बुरे व्यक्ति को ये नहीं मिलते। पर यह धारणा ठीक नहीं है। बुरे से बुरा व्यक्ति भी जीवन में उन्नति कर सकता है। इतिहास में ऐसा देखा जा सकता है पर गोस्वामीजी उसे एक भिन्न रूप देते हैं। वे अयोध्या और लंका दोनों की ही समृद्धि और उन्नति का चित्रण करते हैं। पर दोनों अंतर की ओर भी संकेत करते हैं। अयोध्या एक समुन्नत नगर है, यह ठीक है पर लंका की समृद्धि में क्या कोई कमी है? लंका तो चार सौ कोस की स्वर्ण नगरी है। गोस्वामीजी लंका की उन्नति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

सुख संपति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।१/१८०/१

इन दस वस्तुओं की लंका में निरन्तर उन्नति हो रही है-

नित नूतन सब बाढ़त जाई।

पढ़कर लगता है कि जब सुख बढ़ रहा है, सम्पत्ति बढ़ रही है, पुत्र बढ़ रहे हैं, सेना विशाल हो रही है, सहायक बढ़ते जा रहे हैं, निरन्तर विजय प्राप्त हो रही है, बल बढ़ रहा है, बुद्धि बढ़ रही है और बड़प्पन में वृद्धि हो रही है तब फिर बाकी क्या रहा? पर गोस्वामीजी ने एक वाक्य में बता दिया कि लंका में उन्नति होने पर भी -

जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।। १/१८०/२

रावण का लोभ निरंतर बढ़ते ही जा रहा है। इसका अभिप्राय है कि इन सबके बढ़ने के बाद भी उसके जीवन में कहीं से संतोष का उदय नहीं हो रहा है। वर्णन आता है कि रावण जहाँ कहीं सुंदरी कन्या के विषय में सुनता था तो वह आदेश देकर कहता था कि अपनी कन्या मुझे अर्पित कर दो, वह दे देता तो ठीक! अन्यथा वह बलपूर्वक जीतकर उसे अपने महल में ले आता था। इस प्रकार उसने न जाने कितनी राजकुमारियों व स्त्रियों को अपनी पत्नी बना रखा था। गोस्वामीजी कहते हैं कि -

देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरी निज बाहु बल बहु सुंदरि बर नारि।।
१/१८२-ख

पर इतनी सुंदरी नारियों के होते हुए भी जो सीताजी को चुराये इसका क्या अर्थ हुआ? शूपर्णखा भी रावण की इस दुर्बलता को जानती थी। इसलिये उसने कह दिया कि उस वनवासी राजकुमार के साथ जैसी सुंदरी नारी है। वैसा सौन्दर्य तो तुम्हारे महल में भी नहीं है। सुनकर रावण सीताजी को पाने का निश्चय करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि सभी दिशाओं में उन्नति करने के बाद भी रावण के जीवन में लोभ की वृत्ति निरंतर बढ़ती ही जा रही है। इसके साथ-साथ उसके जीवन में काम और क्रोध का भी अतिरेक दिखायी पड़ता है और यही अतिरेक अंत में लंका के विनाश का कारण बनता है।

गोस्वामीजी ने अयोध्या की उन्नति का भी वर्णन किया पर उसके वर्णन में उन्होंने सर्वथा भिन्न शब्दों का चुनाव किया। धनुष-भंग के पश्चात् जनकपुर से जब दूत पत्र लेकर अयोध्या आये तो महाराज दशरथ ने वह पत्र गुरु वशिष्ठ को दिया तथा दूतों के मुँह से सुनी सारी कथा गुरुदेव को भी सुनायी। वशिष्ठजी इससे बड़े आनन्दित हुए और उस समय उन्होंने जो वाक्य कहे, वे लंका और अयोध्या की उन्नति के पार्थक्य को प्रकट करते हैं। वे कहते हैं -

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं।
जद्यपि ताहि कामना नाहीं।।
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ।
धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ।।१/२९३/२,३

राजन्! तुमने अपने पुत्रों को विवाह के लिये भेजा नहीं, पर देखो न! तुम्हें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा और कितना सुखद समाचार मिल गया! समुद्र नदियों को निमन्त्रण नहीं देता, फिर भी वे समुद्र में बढ़ी चली जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारे जीवन में भी धन्यता की स्थिति है।"

इसका संक्षेप में सूत्र यही है कि हमें जीवन में कहीं न कहीं एक विभाजक रेखा बनानी पड़ेगी। आप देखेंगे कि काम और क्रोध के साथ 'अपार' शब्द न जोड़कर लोभ के साथ ही जोड़ा गया -

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।

काम 'अपार' हो भी नहीं सकता। काम की सीमा है। व्यक्ति

वृद्ध हो जायगा, उसके सामर्थ्य में कमी आ जायगी। क्रोध में भी आदमी अधिक देर तक नहीं रह सकता। ज्यादा देर तक क्रोध करने में उसे स्वयं ही घबराहट होने लगेगी, अतः वह शान्त होने की चेष्टा करेगा। इस प्रकार क्रोध भी अपार नहीं हो सकता। पर निरंतर बढ़ते जाने वाला लोभ तो निस्संदेह 'अपार' है।

हम दिन में लोभ की पूर्ति के लिये परिश्रम तो करते हैं पर रात में भी जागते हैं, नींद नहीं आती। क्यों नहीं आती? क्योंकि हम आगे की योजना बनाते रहते हैं। इसलिये इस अपार को जब तक हम पार की सीमा में न ले आयें तब तक हम अपने जीवन में शान्ति की अनुभूति नहीं कर सकते।

विचार करने पर यह प्रश्न सामने आता है कि मनुष्य जो कुछ करता है उससे वह क्या प्राप्त करना चाहता है? उसका अपने जीवन का लक्ष्य क्या है? तो, वह जो चाहता है उसमें भी विरोधाभास है। मनुष्य सुख पाना चाहता है। यह बात आपको उसके रात और दिन के क्रिया-कलापों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी। दिन में व्यक्ति वह सब करता है जिसमें उसे यह दिखायी देता है कि 'इनके करने से उसे सुख मिलेगा।' पर रात में वह नींद लेना चाहता है। इसके लिये उसे सारा व्यापार बंद करके सोने के लिये जाना पड़ेगा। कई लोगों को बड़ी देर में नींद आती है और कुछ लोग पलँग पर पड़ते ही बड़ी सरलता से सो जाते हैं। तो कहा जा सकता है कि जो बोझ को अपने ऊपर लादे हुए पलँग पर लेटते हैं उनको नींद जल्दी नहीं आती, पर जो हल्के होकर सोते हैं वे सरलता से सो लेते हैं। इस तरह के व्यक्तियों में कई ऐसे हुए हैं जो आध्यात्मिक नहीं थे। इनमें एक नाम चर्चिल का भी आता है। विश्वयुद्ध के समय उन्हें इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया था।

उस युद्ध में उनका सबसे बड़ा जलयान जर्मनी के द्वारा डुबा दिया गया। जल सेना प्रमुख ने यह समाचार सुना तो वह बहुत घबराया। वह प्रधानमंत्री चर्चिल के पास गया और बोला- महामान्य! हम लोगों के लिये एक बहुत बड़ा अशुभ समाचार है। चर्चिल ने उसकी पूरी बात सुनी और उससे पूछा - इस समय कितने बजे हैं। उसने कहा - रात के दस बजे

हैं। चर्चिल ने फिर कहा - जाओ! जाकर सो जाओ। तुम्हारे जागने से यदि डूबा हुआ जहाज बाहर निकल आता तब तो जागना ठीक था, अतः अब विश्राम करो। इसका अर्थ है कि आप रात्रि में शान्ति चाहते हैं। आपको रात्रि में कोई हलचल या शोरगुल पसन्द नहीं आता। दिन में कोई न बोले तो शायद बुरा लगेगा, पर रात में तो दूसरा क्यों, अपनी पत्नी से भी आप वार्तालाप बंद करना चाहेंगे। सोना अर्थात् शांति इतनी आवश्यक है, महत्त्वपूर्ण है।

रामायण में कहा गया है कि यदि हम विचार करके देखें तो हमें दिखायी देगा कि गुण और दोष में कोई अंतर नहीं है। जो गुण है अतिरेक में वही दोष बन जाता है। रामायण में इसके अनेक दृष्टान्त हैं। क्रोध अच्छा है या बुरा है? भगवान् राम समुद्र के किनारे पूछ रहे हैं कि समुद्र कैसे पार करें? विभीषण जी ने कहा - अनशन कीजिये! प्रार्थना कीजिये! प्रभु ने कहा- ठीक है-

करिअ दैव जौं होइ सहाई। ५/५०/१

लक्ष्मणजी ने सुना तो उनको क्रोध आ गया। और केवल क्रोध ही नहीं आया, उन्होंने प्रभु से भी यही कहा - महाराज! -

सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा। ५/५०/३

आप भी क्रोध कीजिये! प्रार्थना से काम नहीं चलेगा। सुनकर भगवान् राम हँसने लगे - हाँ, हाँ! इसकी भी कभी आवश्यकता हो सकती है। बाद में प्रभु को क्रोध भी करना पड़ा। तो क्रोध भी चाहिये, पर अतिरेक से बचना चाहिये।

दिन में आप मंत्री हैं, सेठ हैं, अध्यक्ष हैं, पर रात में सब छोड़कर आप अकेले होना चाहते हैं। खूब गहरी नींद में सोना चाहते हैं। व्यक्ति जागकर कहता है- कितनी अच्छी नींद आयी! बड़ा आनंद आया। कैसी विचित्र बात है - कुछ नहीं होने पर भी आपको कितना आनंद आता है! कई लोग कथा में सो जाते हैं। उन्होंने इसका भी दुरुपयोग किया। जिस समय सुनना चाहिये, सो गये। कथा-लाभ से वंचित रह गये! यदि रात में योजना बनाते-बनाते जागते रहे तो उसका भी आनन्द नहीं ले सके। यदि कोई रात को नहीं सोयेगा तो अंत में वह पागलपन की स्थिति तक भी पहुँच सकता है। यह समाज में, व्यक्ति के जीवन में दिखायी

देता है। कुछ एक पागल ही पागलखाने में दिखायी देते हैं, अधिकांश पागल तो खुले में घूमते हुए दिखायी दे रहे हैं। ये जितने अनर्थकारी होते हैं, वे सब पागल ही होते हैं। पागलपने में बड़े-बड़े काम भी करते हैं। देखा गया है कि पागल व्यक्ति में बड़ी शक्ति आ जाती है। पर उसके इस गुण को देखकर आप प्रसन्न तो नहीं होते, उल्टा यही प्रयास करते हैं कि किसी तरह से वह शान्त हो जाय।

व्यक्ति को धन की आवश्यकता है और उसके लिये व्यक्ति को लाभ चाहिये। कबीरदास जी भी यही प्रार्थना करते हैं कि -

साई इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।

उन्होंने एक सीमा बना ली- इतना चाहिये, इतने की अपेक्षा है। लोग इस प्रश्न को लेकर एक अनिर्णय की स्थिति में देखे जाते हैं कि कितना चाहिये। हमारी क्या-क्या आवश्यकताएँ होनी चाहिये। लोभ का रूप इतना विराट् है, अपार है कि वह सब कुछ उदरस्थ कर जाना चाहता है। पर कबीरदासजी ने कितना सुंदर सूत्र दे दिया कि जिसमें 'स्वार्थ' और 'परमार्थ' दोनों ही पक्ष सिद्ध हो जाते हैं। वे कहते हैं कि आपको जो कुछ प्राप्त हो उससे अपनी भूख की तृप्ति के साथ-साथ दूसरों की भी भूख मिटाने की दृष्टि रखनी होगी। केवल 'पाना' ही नहीं है, देना भी है। जब ऐसी दृष्टि जीवन में आ जाय, व्यक्ति 'देना' सीख जाय तो जीवन में संतुलन आ जायगा। यही दृष्टि लाभ को लोभ बनने से रोक सकती है।

□□

।। श्री रामः शरणं मम।।

दान व दया

'काम' और 'क्रोध' के बाद जिस प्रमुख विकार की निन्दा की गयी है, उस क्रम में तीसरे विकार के रूप में 'लोभ' नाम आता है। 'मानस' के अरण्यकाण्ड में भगवान् राम लक्ष्मणजी से यही कहते हैं कि 'लक्ष्मण! वैसे तो समस्त दुर्गुण मनुष्य के जीवन में दुःख और अकल्याण की सृष्टि करते हैं, पर इनमें भी तीन दुष्ट वृत्तियाँ - काम, क्रोध और लोभ प्रमुख हैं-

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।।
३/३८क

भगवान् कृष्ण भी गीता में इन तीनों विकारों के विषय में यही कहते हैं कि -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।
गीता १७/२१

हे अर्जुन ! काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार, आत्मा का नाश करने वाले हैं, अर्थात् अधोगति को ले जाने वाले हैं, इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

पिछले प्रसंगों में 'काम' और 'क्रोध' की चर्चा जिस रूप में की गयी थी, उससे कुछ भिन्न रूप में 'लोभ' को 'दान' के साथ सामञ्जस्यपूर्वक रखकर देखना ही उचित होगा।

मानव जीवन की एक समस्या यह है कि जिन वृत्तियों की 'विकार' कहकर निंदा की गयी है, उनसे मनुष्य का जीवन इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि उनके बिना संसार का काम चल ही नहीं सकता। 'काम' के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण होता है, अतः यदि 'काम' न हो तो यह सृष्टि ही नष्ट हो जायगी। 'लोभ' के द्वारा मनुष्य को कर्म और पुरुषार्थ

करने की प्रेरणा मिलती है, जिससे समाज में निर्माण होता है, आविष्कार होते हैं और इनसे समाज आगे बढ़ता है। अन्याय या अनुचित कार्य के विरुद्ध क्रोध करके ही, उसे मिटाने की चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकार एक ओर ते ये विकार अनिवार्य रूप से मनुष्य-जीवन के निर्माण और प्रगति से जुड़े हुए दिखायी देते हैं, वहीं दूसरी ओर यह भी दिखायी देता है कि यदि व्यक्ति इनकी मात्रा का ध्यान न रख सके, जैसा कि बहुधा व्यक्ति नहीं रख पाता, तो उस स्थिति में ये विकार व्यक्ति के लिये अकल्याणकारी और कष्टप्रद हो जाते हैं।

भगवान् कृष्ण गीता में काम की महत्ता बताते हुए यही कहते हैं कि धर्मानुकूल अर्थात् मर्यादित काम मैं ही हूँ। क्रोध के बारे में भी यही बात कही जा सकती है कि यदि क्रोध विवेकजन्य हो, कल्याण की भावना से प्रेरित हो, तो वह भी उपयोगी हो सकता है। क्योंकि जिस क्रोध से विवेक समाप्त हो जाय, वह तो अनर्थ की ही सृष्टि करेगा। ऐसा आवेश, जिससे सामनेवाला व्यक्ति भी प्रतिक्रिया में क्रोधित हो जाय, उससे तो बुराई का क्रम बढ़ता ही जायेगा। इसलिए क्रोध भी विवेकजन्य हो तो वह व्यक्ति और समाज के लिये लाभप्रद हो सकता है। इसी प्रकार यदि लोभ भी सद्कर्म की प्रेरणा दे तो यह उसका सदुपयोग है।

गीता का उद्धरण देते हुए मंच से यह कहना तो बड़ा सरल है कि मनुष्य को जो भी कर्म करना चाहिये, वह फल की आकांक्षा को छोड़कर करना चाहिये पर यह सत्य व्यवहार में लाने में अत्यधिक कठिन है। व्यक्ति इस स्थिति तक पहुँच सकता है, पर उसका भी एक क्रम है और जब वह इस मार्ग का अनुसरण करते हुए क्रमशः आगे बढ़ता है तो उसके जीवन में एक ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि उसके द्वारा जो भी कर्म होता है, उसमें उसकी फलाकांक्षा शेष नहीं रह जाती। पर सामान्यतया तो पुरुषार्थ की प्रेरणा व्यक्ति को लोभ के द्वारा ही मिलती है। इसलिए लोभ के विनाश की बात भाषण और प्रवचन में कहना तो संभव है और सुननेवाला उसको वाणी से दुहरा भी सकता है, क्योंकि लोगों को अच्छी लगनेवाली बातें बहुधा याद हो जाती हैं और वे दुहराते रहते हैं। कई-कई लोगों को पूरी गीता याद रहती है। पूरी रामायण याद करने वाले व्यक्ति भी मिल जाते हैं। यह भी एक विशेषता हो सकती

है, पर याद हो जाने का अर्थ यह नहीं होता कि वे सब बातें उस व्यक्ति के आचरण और व्यवहार में भी आ गयी हैं! इन बातों को तो, शास्त्रों में बताये गये एक क्रम के द्वारा ही, वास्तविक रूप में, जीवन में ग्रहण किया जा सकता है।

यदि हम युवा व्यक्ति से यह कहें कि तुम बड़े आलसी हो, अपना पेट भी खुद नहीं पाल सकते! माँ-बाप का आश्रय छोड़कर तुम्हें तो अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। तो जवान व्यक्ति के संदर्भ में यह बात ठीक मानी जा सकती हैं पर माँ क्या अपने नन्हे बच्चे से ऐसा कह सकती है कि तुम बड़े आलसी हो, जब देखो तब सोते रहते हो! तुमको तो बस मेरी गोद ही अच्छी लगती है। चलो! उठो और खड़े हो जाओ अपने पैरों के बल! माँ कभी ऐसा नहीं कह सकती क्योंकि नन्हा बच्चा तो गोदी में ही रहेगा!

मानस में इस संदर्भ में एक बड़ा मीठा प्रसंग आता है। लक्ष्मणजी ने जब यह सुना कि प्रभु वन जा रहे हैं तो वे तुरंत प्रभु के पास आये और उनके चरणों में प्रणाम किया। प्रभु उन्हें देखकर ही समझ गये कि ये मेरे वियोग की कल्पना से घबरा रहे हैं। प्रभु उन्हें समझाने के लिये धर्म और कर्म की व्याख्या करते हुए उपदेश देने लगे। प्रभु ने कहा - लक्ष्मण! तुम बहुत बड़े वीर हो और वीर व्यक्ति की परीक्षा तो किसी अवसर-विशेष पर ही होती है। अतः यदि इस समय तुम मेरे साथ जाने की बात करते हो, तो मैं इसे तुम्हारी कायरता मानूँगा -

तात प्रेम बस जनि कदराहू। २/६९/८

तुम विचार करके देखो कि इस समय पिताजी की दशा कैसी है? सारे अयोध्या के लोग कितने व्याकुल हैं? भाई भरत भी इस समय यहाँ उपस्थित नहीं हैं। इस प्रकार जब सारी अयोध्या पीड़ा और दुःख से ग्रसित है, तो तुम्हें कर्तव्य और धर्म का पालन करना चाहिये। माता-पिता के चरणों की सेवा करना पुत्र का सबसे बड़ा धर्म है और प्रजा की सेवा करना, पालन करना राजा का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह तो नरक में जाता है-

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई।।

भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं।।
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा।
होइ सबहि बिधि अवध अनाथा। २/७०/१-३
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।। २/७०/६

लक्ष्मण! मैं जानता हूँ कि तुम कायर और डरपोक नहीं हो, पर इस समय प्रेम और भावुकता के वश में होकर मेरे साथ वन जाना चाहते हो। तुम विचार करके देखो और यहाँ रहकर माता-पिता और प्रजा का पालन करो, यही श्रेष्ठ कर्तव्य और धर्म है-

रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू।। २/७०/५

हे भाई! तुम यह भार उठाओ और यदि तुम भावुकता के कारण इससे भागने का प्रयास करोगे तो लोग तुम्हें वीर नहीं मानेंगे!

भगवान् राम ने जो उपदेश दिया वह शास्त्रों के अनुकूल ही है। भगवान् कृष्ण भी गीता में ऐसा ही उपदेश देते हुए दिखायी देते हैं। वर्णन आता है कि प्रारंभ में, अपने सगे-संबंधियों और गुरु आदि को युद्धक्षेत्र में उपस्थित देखकर, भगवान् कृष्ण से अर्जुन ने जब यह कहा कि मैं भले ही भिक्षा माँग कर खा लूँगा पर युद्ध नहीं करूँगा तो उस समय भगवान् यही कहते हैं- अर्जुन! तुम्हारी यह वृत्ति तो नपुंसकता की वृत्ति है-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

और इस प्रकार की कायरता तुम्हारे लिये उचित नहीं है, अतः इसका परित्याग करो।

भगवान् राम ने उपदेश देने के बाद लक्ष्मणजी की ओर देखा। मानो प्रभु यह जानना चाहते थे - लक्ष्मण! मेरा उपदेश तुम्हें कैसा लगा? यह उचित और धर्म के अनुकूल लगा या नहीं? पर लक्ष्मणजी ने एक वाक्य के द्वारा प्रभु के सारे भाषण को समाप्त कर दिया। उन्होंने कहा- महाराज! धर्म का कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो सबके लिये समान रूप से उपयोगी हो। प्रभु! यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या उपदेश

दिया जा रहा है, महत्त्वपूर्ण तो यह है कि सुनने वाला कौन है और कितना कुछ धारण कर सकता है। लक्ष्मणजी ने यह भी संकेत किया कि धर्म के इस उपदेश को जीवन में उतारने में पूर्ण समर्थ व्यक्ति अभी आने वाले हैं और वे आकर यह सब भार उठा लेंगे। उन्होंने यद्यपि नाम तो नहीं लिया पर उनका संकेत श्री भरत की ओर ही था।

लक्ष्मणजी ने कहा- महाराज! मुझे तो ऐसा लगता है कि उपदेश देते समय आप यह बात भूल गये कि आपके सामने कौन खड़ा है! प्रभु! मैं तो एक नन्हा-सा शिशु हूँ -

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। २/७१/३

लक्ष्मणजी का भाव बड़ा मधुर है। वे कहते हैं - प्रभु! यह तो सब बार-बार कहते ही हैं कि छोटों को बड़ों का भार उठाना चाहिये। पर नन्हें शिशु से उसका पिता क्या यह कहता है कि 'तुम मेरा भार उठाओ या मेरा बोझ हल्का कर दो?' नन्हा-सा बालक भला क्या भार उठा सकता है? उस छोटे-से बालक को तो पिता को ही अपनी गोद में उठाना पड़ता है। प्रभु! यह तो उस शिशु की अपरिहार्य लाचारी है कि वह पिता की गोद का बोझ ही बन सकता है, उनका भार हल्का नहीं कर सकता। महाराज! मैं भी तो एक नन्हा-सा शिशु हूँ।

लक्ष्मणजी की बात से थोड़ा आश्चर्य होना स्वाभाविक ही है क्योंकि उम्र की दृष्टि से दोनों भाइयों में कोई विशेष अंतर नहीं है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब भगवान् राम युवा हैं, तो लक्ष्मणजी शिशु कैसे हो गये? पर भगवान् राम उनके इस कथन का खंडन नहीं करते, क्योंकि वे ऐसा नहीं कर सकते। वे ऐसा क्यों नहीं कर सकते? इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्मण-परशुराम संवाद के प्रसंग में हमें प्राप्त होता है।

धनुष-यज्ञ के मंडप में परशुरामजी लक्ष्मणजी की बात सुनकर जब क्रोध से भर जाते हैं तो वे भगवान् राम से कहते हैं कि तुम अपने छोटे भाई तक को समझा नहीं पाते हो? इस पर भगवान् राम कहते हैं- प्रभु! यह नन्हा-सा बालक है -

नाथ करहु बालक पर छोहू। १/२७६/१

आप इस पर 'छोह' कीजिये! इसे सुनकर परशुरामजी का

क्रोध और भी बढ़ गया। उन्होंने भगवान् राम से कहा- यह तुम्हें बालक दिखायी देता है? मुझे तो उम्र में यह तुम्हारी बराबरी का ही लगता है। बात बनाने तथा लड़ने-भिड़ने में तुमसे अधिक तेज दिखायी देता है। फिर परशुरामजी ने व्यंग्य करते हुए पूछा- अच्छा, अब यह भी बता दो कि यह कितने बरस का बालक है? अब भगवान् राम ने ऐसा वाक्य कह दिया जिसे सुनकर परशुरामजी ने सोचा- हद हो गयी! भगवान् राम ने कहा - महाराज! यह तो 'दुधमुँहा' बालक है -

नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिअ न कोहू।। १/२७६/१

दुधमुँहा बालक तो उसे कहा जाता है कि जिसके मुँह में अभी दाँत तक नहीं निकले हैं। छोटी उम्र का वह बालक एकमात्र अपनी माँ के दूध पर ही निर्भर रहता है। परशुरामजी को प्रभु की यह बात बिलकुल अटपटी लगी पर बाद में परशुरामजी ने इसके अर्थ पर विचार किया तो उसे समझकर वे बहुत आनंदित हुए।

'मानस' में गोस्वामीजी ने इस प्रसंग में प्रभु के वचन के लिये जो विशेषण दिये हैं वे बड़े सांकेतिक हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् राम के वचन सुनने में तो मृदु - कोमल हैं और उनके अर्थ बड़े गूढ़ हैं-

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। १/२८३/६

इसलिए सुनने में जो अर्थ सामने आता है, यदि उस पर विचार किया जाय तो एक दूसरा अर्थ भी समझ में आता है।

प्रभु की बात सुनकर ऐसा लगता है कि मानो वे परशुरामजी से प्रार्थना कर रहे हों कि महाराज! लक्ष्मण तो एक अबोध दुधमुँहा बच्चा है, अतः इस पर क्रोध न करके कृपा कीजिये और इसे क्षमा कर दीजिये। पर विचार करने पर हम देखते हैं कि भगवान् राम मानो परशुरामजी को संकेत करते हैं और कहते हैं - महाराज! आपने ध्यान दिया कि लक्ष्मण कितना निश्चिन्त और निर्भय है? यह आपकी किसी भी बात से जरा-सा प्रभावित दिखायी नहीं देता। लक्ष्मणजी, परशुरामजी से न तो डरते हैं और न प्रभावित ही होते हैं, क्योंकि वे तो-

प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा। १/५२/२

परम ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्र का प्रभाव जानते हैं।

सचमुच, जिसने ईश्वर का प्रभाव जान लिया हो उसे अन्य कोई क्या प्रभावित कर सकता है? जीवन में असली हीरे को धारण करनेवाला व्यक्ति क्या नकली हीरे या चमकीले काँच से प्रभावित हो सकता है? उस व्यक्ति के लिये तो इसका कोई मूल्य या महत्त्व हो ही नहीं सकता। इसलिए लक्ष्मणजी परशुरामजी से न तो प्रभावित होते हैं और न ही भयभीत होते हैं।

संसार में जन्म लेने वाला बालक प्रारंभ में माँ के दूध पर ही आश्रित रहता है। पर यह बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, तो वह फिर दुधमुँहा नहीं रह जाता, क्योंकि तब उसकी आवश्यकता भी बढ़ती चली जाती है। यह कहने लगता है - यह भी चाहिये, वह भी चाहिये। इसी प्रकार संसार में व्यक्ति भी सद्‌गुण चाहता है, कीर्ति चाहता है, सम्मान आदि चाहता है। इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति बड़ा होना चाहता है।

पर लक्ष्मणजी जीवनभर दुधमुँहे ही बने रहे। एकमात्र ईश्वर की कृपा और प्रेम रूपी दुग्ध को छोड़कर उन्होंने किसी अन्य वस्तु की कभी कोई कामना नहीं की और न ही आवश्यकता समझी। वे तो बस ईश्वर की गोद में उसकी करुणा, स्नेह और कृपा से ही पले हुए हैं। इसलिए, आज जब प्रभु बनगमन के समय लक्ष्मणजी को उपदेश देने लगे तो लक्ष्मणजी ने प्रभु को स्मरण दिलाया- महाराज! आपने ही तो मुझे दुधमुँहा बालक कहा था, तो अब वह बालक बड़ा हो गया क्या? प्रभु क्या आपको यह लगने लगा कि मैं बदल गया हूँ? अब प्रभु क्या कह सकते हैं? वे मौन हैं। वे जानते हैं कि लक्ष्मण तो पूरा दुधमुँहा बालक ही है। लक्ष्मणजी ने प्रभु से कहा - महाराज! आप जो उपदेश दे रहे हैं कि धर्मपालन के द्वारा पृथ्वी पर यश और ऐश्वर्य मिलता है तथा मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलता है, पर आप मुझे यह बताइये कि जिसे ये तीनों वस्तुएँ- यश, ऐश्वर्य और स्वर्ग नहीं चाहिये, उसके लिये आपके द्वारा जो धर्म-कर्म का उपदेश दिया गया है, उसका पालन करना अनिवार्य है क्या? अब प्रभु क्या कहें? क्योंकि आप दाम तो उसी से ले सकते हैं, जिसे वस्तु चाहिये। लक्ष्मणजी यही कहते हैं -

धरम नीति उपदेसिअ ताही।

कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।। २/७१/७

महाराज! मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या सब, इन तीनों वस्तुओं को पाने के लिये ही धर्म का पालन करते हैं? क्या कोई ऐसा निष्काम व्यक्ति नहीं हो सकता जो कुछ न चाहते हुए भी धर्म का पालन करे? लक्ष्मणजी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीभरतजी की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि -

नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी।। २/७१/२

प्रभु! यदि आप चाहते हों कि बिना किसी फलाकांक्षा के निष्काम भाव से धर्म का पालन किया जाय, तो उसके योग्य अधिकारी तो नरश्रेष्ठ, धर्म-धुरीन भैया भरत ही हैं। प्रभु! आप उनको जितना भी भार देना चाहें, वे उसे उठा लेंगे! पर मुझसे तो आप किसी भी प्रकार के भार उठाने की आशा ही न रखें। फिर लक्ष्मणजी उसी शब्द का उपयोग करते हुए कहते हैं -

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।

महाराज! मैं तो दुधमुँहा बालक हूँ और आपके स्नेह को छोड़कर मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। लक्ष्मणजी प्रभु से पूछते हैं कि अगर कोई हंस के नन्हें से बच्चे को देखे और कहे कि तुम्हारी परीक्षा यह है कि देखें, तुम कितना बोझ उठा लेते हो। तो प्रभु क्या यह उसके प्रति न्याय है? क्योंकि मेरु पर्वत को उठाना, यह हंस के बच्चे का कार्य नहीं है-

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मंदर मेरु कि लेहिं मराला।। २/७१/३

और प्रभु! आपने यह जो कहा है कि घर में रहो और माता-पिता तथा गुरुजी की सेवा करो, तो महाराज! मैं इन सबको जानता ही नहीं-

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।। २/७१/४

यह लक्ष्मणजी की अनन्यता है! वैसे लक्ष्मणजी का यह वाक्य बहुत ऊँचा नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेवाले तो बहुत से लोग मिल जाते हैं। बहुधा तो लोग यही कहते ही हैं कि हम किसी को नहीं जानते,

हम किसी को नहीं मानते पर यदि सचमुच! जिसके जीवन में एकमात्र ईश्वर को छोड़कर अन्य कोई कामना या वासना नहीं है, उसके लिये किसी कर्तव्य कर्म का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार दो व्यक्तित्व हमारे सामने आते हैं। एक ओर श्रीभरत जी हैं जिन्होंने फलाकांक्षा-रहित निष्काम कर्मयोग को, समर्पण के तत्त्व को अपने जीवन-आचरण में चरितार्थ करके दिखाया है। दूसरी ओर लक्ष्मण जी का महान् व्यक्तित्व है जिसमें ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी का कोई प्रवेश नहीं है। वे अनन्यतापूर्वक ईश्वर के स्नेह से जुड़े हुए हैं। संसार के अधिकांश व्यक्ति कामनाओं की प्रेरणा से ही कर्म करते हैं। भगवान् कृष्ण, इसीलिए गीता में अर्जुन से प्रारंभ में ही पूर्ण निष्काम हो जाने की बात नहीं कहते। वे कहते हैं -

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। गीता-२/३७

अर्जुन! तुम लड़ोगे तो मारे जाओगे अथवा विजयी बनोगे। यदि जीतोगे तो राजा बनकर पृथ्वी का सुख भोगोगे और यदि रणक्षेत्र में मृत्यु हो गयी तो स्वर्ग के भोगों को प्राप्त करोगे। अतः युद्धकर्म के लिये निश्चयपूर्वक खड़े हो जाओ। इसलिए जो बात हमारी कक्षा की हो, उससे प्रारंभ करके क्रमशः आगे की बात कहनी चाहिये। क्योंकि व्यक्ति के जीवन में कामनाएँ तो होती ही हैं, अतः प्रारम्भ में कर्म का सम्पादन तो फल की इच्छा से ही प्रेरित होगा और उस इच्छा को छिपाकर अपने आप को निष्काम दिखाने की चेष्टा का परिणाम वैसा ही भयावह होगा जैसा कि प्रतापभानु के जीवन में दिखायी देता है।

पूछा जा सकता है कि क्या इसका यह अर्थ है कि हम निरंतर कामनाओं में ही, 'काम' में ही डूबे रहें? निरंतर क्रोध करते रहें? और चाहे जितना लोभ करते रहें? इसका उत्तर देते हुए यही कहा गया कि नहीं, नहीं! हमें इन सबको क्रमशः नियंत्रित करना होगा, मर्यादित करना होगा और इन्हें कल्याणकारी बनाना होगा।

व्यक्ति यश, सुख और ऐश्वर्य आदि की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये ही कर्म करता है। दान भी एक कर्म ही है। इस संदर्भ में रामचरितमानस में उत्कृष्ट दान का एक प्रसंग आता है, जब महर्षि

विश्वामित्र महाराज दशरथ के पास श्रीराम और श्रीलक्ष्मणजी को माँगने के लिये आते हैं।

महाराज दशरथ ने बड़े उत्साह से उनका स्वागत किया, उनकी पूजा की और उनके लिये विविध प्रकार के व्यंजन लाये गये। गोस्वामीजी कहते हैं कि -

करि दंडवत मुनिहि सनमानी।
निज आसन बैठारेन्हि आनी।।
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा।
मो सम आजु धन्य नहिं दूजा।।
बिबिध भाँति भोजन करवावा।
मुनिबर हृदयँ हरष अति पावा।। १/२०६/२,४

महाराज दशरथ के इस व्यवहार से महर्षि विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए। फिर महाराज दशरथ ने कहा - महाराज! आप-जैसा महापुरुष आया हुआ है यह तो मेरा सौभाग्य है। आपको यदि कोई आवश्यकता हो तो आप मुझे आज्ञा दें। महाराज दशरथ ने उत्साह में भरकर यहाँ तक कह दिया कि महाराज! आपके कहने की देर है, मेरे करने में देर नहीं होगी। विश्वामित्रजी सुनकर मन ही मन हँसे। मानो, उनकी हँसी का अर्थ यह था कि राजन्! मेरी माँग जब तक पता न चले तभी तक तुम्हारा उत्साह है, सुनने के बाद तो मुझे लगता नहीं कि यह बना रहेगा।

इस संदर्भ में आप यह विचार करें कि 'महाराज दशरथ का जीवन सकाम है या निष्काम है? हम देखते हैं कि वृद्धावस्था में पहुँचने पर भी पुत्र प्राप्त न होने के कारण वे दुःखी एवं चिन्तित दिखायी देते हैं। वे सोचते हैं कि राज्य, धन-संपत्ति आदि सब है, पर पुत्र नहीं है। संसार में अनेकानेक व्यक्ति पुत्र न होने के कारण दुःखी दिखायी देते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि महाराज दशरथ के जीवन में सद्गुण और धर्म के साथ-साथ पुत्र पाने की 'कामना' भी निश्चित रूप से विद्यमान थी। इस प्रकार उन्हें सकाम ही कहा जायगा। महाराज दशरथ इसे स्वीकार करते हैं। वे इस कामना की पूर्ति के लिये गुरु वशिष्ठ के पास जाते हैं और उन्हें प्रणाम करने के बाद उनके समक्ष अपनी इस कामना को प्रकट करते हैं। गुरु वशिष्ठ उनकी बात सुनकर उन्हें निष्काम

बनने का उपदेश नहीं देते, वे यह नहीं कहते हैं कि राजन्! क्यों पुत्र चाहते हो? क्या पुत्र पाने से ही कल्याण होता है? तुम्हें तो इस इच्छा का त्याग करके मुक्ति-प्राप्ति की दिशा में प्रयास करना चाहिये। ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं कि जिनमें पुत्र-प्राप्ति के बाद पिता के दुःखों में वृद्धि की बात सामने आती है। गुरु वशिष्ठ तो महान् हैं, वे जानते हैं कि यदि किसी के जीवन में कामना है तो उसे निष्कामता का उपदेश न देकर, कैसे उसकी कामना की दिशा को एक कल्याणकारी मोड़ दे दिया जाय! गुरु वशिष्ठ महाराज दशरथ से कहते हैं - राजन्! तुम्हें पुत्र पाने के लिये यज्ञ करना होगा। वशिष्ठजी का यह सूत्र- यदि जीवन में कामना है तो उसे यज्ञ से जोड़ देना चाहिये, बड़े महत्त्व का है।

आइये! यज्ञ के स्वरूप और अर्थ पर थोड़ा विचार कर लें! जीवन में हमारे कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें हम अपने और अपने परिवार के लिये करते हैं। पर यज्ञ का अर्थ है - ऐसे कर्म का सम्पादन करना, जिसके मूल में सबके कल्याण की कामना निहित हो। गुरु वशिष्ठ जानते हैं कि महाराज दशरथ निष्काम कर्म के अधिकारी नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें यज्ञ-कर्म का आदेश देते हैं। गुरु वशिष्ठ की दूसरी विलक्षणता भी सामने आती है। वे स्वयं उस यज्ञ के आचार्य बनने के स्थान पर शृंगी ऋषि को आचार्यत्व सौंप देते हैं। बहुधा यजमान और पुरोहित बनने के लिये बड़े झगड़े होते देखे जाते हैं, पर गुरु वशिष्ठ दशरथ जी से कहते हैं कि इस पुत्रेष्टि-यज्ञ का आचार्य, मैं नहीं, शृंगी ऋषि होंगे और उस यज्ञ से तुम्हें चार पुत्र प्राप्त होंगे-

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा।। १/१८८/५

कामना तो पुत्र की है पर यह एक शुभ यज्ञ है। तो, कामना की पूर्ति के लिये शुभ मार्ग का आश्रय लेना एक पक्ष हो गया और कामना-पूर्ति के लिये अशुभ मार्ग का आश्रय लेना एक दूसरा पक्ष है। महाराज दशरथ ने जो यज्ञ किया उसका उद्‌देश्य बड़ा पवित्र और शुभ था इसलिए कामनायुक्त या सकाम होने पर भी यह 'शुभ यज्ञ' कहा गया। आप देखेंगे कि राजा द्रुपद ने भी यज्ञ किया पर उस यज्ञ के पीछे उनका उद्‌देश्य अपवित्र था।

महाराज द्रुपद की कथा से आप सब परिचित ही होंगे। द्रुपद और द्रोणाचार्य दोनों सहपाठी थे। दोनों में गाढ़ी मित्रता थी। द्रुपद द्रोणाचार्य से कहते थे - मित्र! तुम निश्चिन्त रहो जब मैं राजा बनूँगा तो तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूँगा। दोनों शिक्षा पूरी करके अलग हो गये। द्रुपद तो राजा के पुत्र थे, अतः कुछ समय बाद वे राजा बन गये। पर द्रोणाचार्य गरीब ब्राह्मण के पुत्र थे, वे समय बीतने पर भी गरीब के गरीब ही बने रहे। उनके जीवन में इतना अधिक अभाव था कि अपने पुत्र के लिये वे दूध का भी प्रबंध नहीं कर पाते थे। वर्णन आता है कि एक बार जब अश्वत्थामा ने दूसरे बालकों को दूध पीते देखा तो आकर अपने पिता से दूध पीने की इच्छा व्यक्त की। द्रोणाचार्य व्याकुल हो उठे और तब उन्होंने आटे को पानी में घोलकर अपने पुत्र को भुलावा देने की चेष्टा की। इस घटना से उन्हें अपने मित्र द्रुपद का स्मरण हो आया और वे उनके पास गये। द्रुपद ने उन्हें पहचान कर भी, न पहचानने का नाटक किया। ऐसा बहुधा होता ही है कि लोग पद-प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि पाकर अपने दरिद्र-गरीब साथियों को पहचान नहीं पाते।

द्रोणाचार्य ने कहा- मित्र द्रुपद! क्या सचमुच तुम मुझे भूल गये? हम दोनों एक साथ पढ़ा करते थे और उस समय तुमने मुझे राजा हो जाने के बाद आधा राज्य देने का वचन दिया था। पर राजा द्रुपद ने स्पष्ट रूप से कह दिया - अरे! बचपन में कही गयी बातों को कोई इतना महत्त्व देता है क्या? आश्चर्य! तुम उन पुरानी बातों को लेकर यहाँ तक चले आये। तुम लौट जाओ, मुझे तो कुछ भी याद नहीं है। द्रोणाचार्यजी अपमानित होकर दुःखी मन से वापस लौट आये। पर प्रतिक्रिया स्वरूप उनके मन से बदला लेने की वृत्ति जाग्रत् हो गयी। द्रोणाचार्य जी शस्त्र विद्या के बहुत बड़े ज्ञाता थे। पितामह भीष्म को लगा कि इनसे बढ़कर कौरवों और पाण्डवों को शस्त्र की शिक्षा देने वाला और कौन होगा? अतः उन्होंने द्रोणाचार्य की नियुक्ति उनके आचार्य के रूप में कर दी और द्रोणाचार्य उन राजपुत्रों को शस्त्र ज्ञान देने लगे।

प्राचीनकाल में शिक्षा पूरी होने पर गुरु-दक्षिणा देने की परम्परा थी। उनके शिष्यों ने भी गुरुजी से पूछा - गुरुदेव! हम आपको क्या दक्षिणा दें? आप आज्ञा करें! द्रोणाचार्यजी को अपना अपमान भूला नहीं

था। उन्होंने कहा - तुममे से जो सचमुच मुझे गुरु-दक्षिणा देना चाहता ह वह द्रुपद को पकड़कर मेरे पास ले आये। सब शिष्य तो ऐसा नहीं कर सके पर अर्जुन एक महान् योद्धा थे, उन्होंने द्रुपद को युद्ध में हराया और उन्हें रस्सियों से बाँधकर द्रोणाचार्यजी के सामने डाल दिया। द्रोणाचार्य ने द्रुपद को सामने पाकर उनसे कहा- मित्र द्रुपद! तुम मुझे पहचान गये या नहीं? मैं अब तुमसे आधा राज्य लूँगा। उन्होंने आधा राज्य लेकर अपने पुत्र को दे दिया और फिर द्रुपद को मुक्त भी कर दिया। द्रुपद ने अपने आपको अत्यन्त अपमानित अनुभव किया। इस प्रकार महाभारत में क्रिया-प्रतिक्रिया की एक लम्बी शृंखला दिखायी देती है। किसी ने मुझसे एक बार पूछा कि रामायण और महाभारत में अन्तर क्या है? मैंने यही कहा कि महाभारत अर्थात् जैसा होता है, और रामायण माने जैसा होना चाहिये। महाभारत में अपमान बदला और एक दूसरे के प्रति हिंसा-प्रतिहिंसा की वृत्ति सर्वत्र दिखायी देती है।

द्रुपद अपनी इस हार और अपमान से मन ही मन क्रोध से भर जाते हैं पर उस समय कुछ नहीं कर पाते। वे सोचते हैं कि इस तरह अपमानित करने वाले द्रोणाचार्य को मैं जिन्दा नहीं रहने दूँगा। इसलिए वे मुनियों के पास जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मुझे एक ऐसा पुत्र चाहिये जो द्रोणाचार्य का वध कर सके। अनेकानेक मुनियों ने कहा कि वे ऐसा यज्ञ नहीं करायेंगे, पर कहा जा सकता है कि संयोगबस या फिर ऐसी भवितव्यता थी की एक आचार्य मिल ही गये। यज्ञ हुआ और उस यज्ञ के अग्निकुण्ड से द्रुपद को धृष्टद्युम्न के रूप में एक पुत्र तथा द्रौपदी के रूप में एक पुत्री की प्राप्ति हुई। यह विदित ही है कि द्रोणाचार्यजी धृष्टद्युम्न के हाथों मारे गये।

वर्णन आता है कि जब धृष्टद्युम्न कुछ बड़ा हुआ तो द्रुपद उसे लेकर द्रोणाचार्य के पास गये और कहा कि आप इसे शस्त्र की शिक्षा दें। द्रोणाचार्य यद्यपि सब जान चुके थे फिर भी उन्होंने सोचा कि मेरे पास यह शिक्षा लेने के लिये आया है, अतः इसे निराश नहीं करूँगा। उन्होंने धृष्टद्युम्न को अस्त्र-शस्त्र की सारी विद्या सिखायी, पर अन्त में धृष्टद्युम्न ने इतने अन्यायपूर्ण ढंग से द्रोणाचार्यजी का वध किया कि सबलोग उसे धिक्कारने लगे। युद्धक्षेत्र में एक ऐसी स्थिति आयी जब

द्रोणाचार्य अस्त्र-शस्त्र नीचे रखकर ध्यान में बैठ गये, उसी समय धृष्टद्युम्न अपने रथ से नीचे उतरकर आचार्य द्रोण के पास गया और उसने अपनी तलवार से उनका सिर काट दिया। लोग हाय! हाय! कर उठे और सब कहने लगे कि कितने बड़े अधर्म की बात है कि युद्ध से विरत होकर ध्यान में बैठे हुए आचार्य का इस प्रकार अन्यायपूर्ण ढंग से वध कर दिया गया। बदले की वृत्ति से प्रेरित ऐसी घटनाओं से महाभारत भरा पड़ा है। रामायणकाल में भी ऐसी वृत्ति वाले व्यक्ति थे पर उनकी संख्या बहुत कम थी। लंका युद्ध की अवधि में मेघनाद भी एक यज्ञ करता है, उस यज्ञ के पीछे उसका उद्देश्य भी अपवित्र ही है। वह यज्ञ में मांस और रक्त की आहुति देता है-

मेघनाद मख करइ अपावन।
खल मायावी देव सतावन।। ६/७४/४
जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा।
आहुति देत रुधिर अरु भैंसा।। ६/७५/१

इस यज्ञ के द्वारा वह ऐसी शक्ति प्राप्त करना चाहता है कि जिसके द्वारा वह लक्ष्मणजी का वध कर सके तथा भगवान् राम को पराजित कर सके। इस प्रकार हिंसा की वृत्ति से किये जाने वाले यज्ञ में यज्ञ सदृश क्रिया तो दृष्टिगोचर हो सकती है पर यज्ञ की भावना नहीं हो सकती। यज्ञ की भावना महाराजश्री दशरथ में थी। अतः उस यज्ञ से सबका हित और कल्याण हुआ और दूसरी ओर यज्ञ-भावना से हीन और हिंसा भावना से किये गये द्रुपद के यज्ञ का फल हिंसा और विनाश के रूप में ही सामने आता है। उस यज्ञ से उत्पन्न धृष्टद्युम्न ने अन्यायपूर्ण ढंग से द्रोणाचार्यजी का वध किया और पुत्री के रूप में प्राप्त होने वाली द्रौपदी महाभारत का मूल कारण बनी। द्रुपद का यह यज्ञ शुभ न होकर अशुभ यज्ञ था जिसका परिणाम विनाशकारी ही सिद्ध हुआ।

हमारे शास्त्र बताते हैं कि मन्त्रों में अमित सामर्थ्य है, हम उनसे शक्ति प्राप्त कर उसका सदुपयोग कर सकते हैं और चाहे तो उस शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। हम उस शक्ति से लोककल्याण के कार्य सम्पन्न कर सकते हैं और चाहे तो उसका प्रयोग दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में भी कर सकते हैं। महाराज दशरथजी के यज्ञ के लिये कहा गया कि

शृंगी ऋषि के आचार्यत्व में चलने वाला वह यज्ञ यद्यपि पुत्र की कामना से सम्पन्न किया गया पर वह लोक कल्याणकारी होने से बड़ा शुभ यज्ञ था। गोस्वामीजी कहते हैं कि -

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा।।
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें।। १/१८८/५,६

जब आहुतियाँ दी गयीं तो अग्निदेव हाथ में चरू लेकर प्रकट हो गये। यज्ञ में भी आदान-प्रदान है। इस प्रकार यह देने और लेने का जो क्रम है मानो वह सृष्टि से जुड़ा हुआ है, ब्रह्मा जी ने जब सृष्टि बनायी तो यही कहा भी कि -

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक्।। गीता-३/१०

मैं तुम्हारे लिये यज्ञ का विधान देता हूँ तुमलोग यज्ञ के द्वारा देवताओं की कामना पूरी करो और देवता तुम्हारी कामनाएँ पूरी करेंगे यही यज्ञ का पहला पाठ है। अग्निदेव ने प्रकट होकर चरू महाराज दशरथ के हाथ में दे दिया। मानो अग्निदेव ने लिया ही नहीं, दिया भी। साथ ही उन्हें आदेश भी दे दिया कि -

यह हवि बाँटि देहु नृप जाई।
जथा जोग जेहिं भाग बनाई।। १/१८८/८

इसका यथायोग्य वितरण करो, ऐसा न हो कि जो रानी तुम्हें प्रिय हो उसे ही सब चरू दे दो। यज्ञ का तात्पर्य भी यही है कि जो कुछ पाइये उसे बाँटिये अवश्य! कामना से प्रेरित यज्ञ से जो फल मिले यदि उसे बाँट दिया जाय तो वह कामना और यज्ञ दोनों ही शुभ हैं। पर यदि उसका उपयोग केवल अपनी ममता और स्वार्थ की पूर्ति हेतु होगा, तब अशुभ ही कहा जायेगा।

महाराज दशरथ की कामना पूर्ण हुई और ईश्वर ही चार पुत्रों के रूप में आ गया। उनकी बाल-लीलाओं तथा उनके शील और सौंदर्य को देखकर राजा ही क्या समस्त अयोध्यावासी परमानन्द में निमग्न हो गये। एक दिन विश्वामित्र जी अयोध्या में आये और उन्होंने कहा कि

राजन्! मेरे यज्ञ पर संकट पड़ा हुआ है उसकी रक्षा के लिये मैं तुम्हारे दो पुत्रों को माँगने आया हूँ। महाराज दशरथ ने जब यह बात सुनी तो वे बड़े गम्भीर हो गये और कह दिया कि यह तो सम्भव नहीं है।

वस्तुतः सत्य तो यही है कि व्यक्ति को देना ही पड़ता है चाहे वह सुख से अथवा दुखी होकर दे। व्यक्ति इस संसार में लोभ से अथवा श्रम के द्वारा किसी प्रकार चाहे जितना भी धन सम्पत्ति एकत्रित कर ले पर यहाँ से जाते समय वह कुछ भी अपने साथ लेकर नहीं जा सकता। जब सब कुछ छूट जायेगा तो फिर दूसरों को ही तो मिलेगा। इसलिए जो वस्तु छूट जाने वाली है या फिर छीन ली जाने वाली हो उसे दूसरे को देकर व्यक्ति जीते जी कम से कम यश की प्राप्ति तो कर ही सकता है। अपने हाथों दान करने से व्यक्ति को संतोष होता है। यदि सब कुछ पीछे छूट जाय अथवा कोई बलात् छीन ले जाय तो ऐसी स्थिति में केवल दुःख ही हाथ आता है। व्यक्ति यदि इस सत्य को समझ ले तो उसे देने में आनन्द मिलने लगेगा। विश्वामित्र जी ने महाराज दशरथ से यही कहा कि राजन्! अपने चार पुत्रों में से दो पुत्र मुझे दे दो।

एक व्यंग्य गाथा आती है। एक वृद्ध सज्जन किसी स्टेशन से रेलगाड़ी में चढ़े। उन्हें बैठने की जगह नहीं मिली, अतः बेचारे खड़े रहे। कुछ समय बाद एक स्टेशन आया जहाँ पर एक नवयुवक यात्री को उतरना था। वह युवक उतरते समय उस वृद्ध सज्जन से कहने लगा - बाबा! लीजिये मैं अपनी सीट आपको दिये जा रहा हूँ। बूढ़े बाबा ने व्यंग्य से मुस्कराते हुए कहा - बेटा! यह तो आपकी सीट है न! इसे साथ ही लेते जाइये, आप क्यों दिये जा रहे हैं? इसका तात्पर्य है कि जब आप ले ही नहीं सकते तो ऐसी स्थिति में देने का भी कोई अर्थ नहीं बनता। यदि प्रारंभ में ही उस नवयुवक ने बूढ़े बाबा को वह सीट दे दी होती, तब उसका वह देना सार्थक माना जाता। अब तो उसे छोड़कर जाना ही पड़ेगा, यह देना कहाँ से हुआ? -

देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कहँ इन्ह कहँ अति कल्यान।। १/२०७

राजन्! तुम प्रसन्न मन से दो। इससे हम दोनों को ही आनन्द आयेगा और इन राजकुमारों का भी इसमें कल्याण होगा। विश्वामित्रजी महाराज

दशरथ को समझाते हुए कहते हैं - धन-सम्पत्ति तो तुम्हारे पास थी ही, पुत्र नहीं थे जिन्हें तुमने यज्ञ के माध्यम से प्राप्त कर लिया। धन और पुत्र से आगे की वस्तु है यश! तुम अपने दो पुत्रों का जब मुझे दान कर दोगे तो तुम्हें सुयश की प्राप्ति भी हो जायेगी-

धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कहँ,

और साथ-साथ

इन्ह कहँ अति कल्यान।

राजन्! दान देने वाला कभी घाटे में रहता ही नहीं है। इन बालकों को भी इससे लाभ ही होगा। पर विडंबना यह है कि संसारी व्यक्ति की ममता इतनी प्रबल हो जाती है, वस्तु के प्रति इतना मेरापन जुड़ जाता है कि व्यक्ति सरलता से उन्हें अपने से अलग कर देना नहीं चाहता। महाराज दशरथ अपनी ममता के कारण विश्वामित्रजी को उलाहना भरे स्वर में कहते हैं - महाराज! आपने माँगा पर माँगने से पहले इस पर विचार नहीं किया। मानो दशरथजी तो हो गये विचारक और विश्वामित्र जी हैं विचारशून्य। वस्तुतः ममता के कारण व्यक्ति को यही लगता है। वे कहते हैं -

चौथे पन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।। १/२०७/२

महाराज! आपको विचारपूर्वक माँगना चाहिये था। सत्य तो यही है कि दशरथजी ही विचारपूर्वक नहीं बोल रहे हैं। यदि उनका एक ही पुत्र होता तो वे अस्वीकार कर देते, कह देते - महाराज! एक ही पुत्र है, बताइये कैसे दे दूँ? पर वे कहते हैं - ब्राह्मण देवता! मेरे तो बस चार ही पुत्र हैं। उनसे पूछा जा सकता है - कितने बेटों से आपको संतोष होगा? दशरथजी आगे कहते हैं - महाराज! आप यह न समझियेगा कि मैं कंजूस हूँ -

मागहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा।।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।।
सब सुत मोहि प्रिय प्रान की नाईं।

राम देत नहिं बनइ गोसाईं।। १/२०७/३,५

मैं अपना राजपाट, धन-सम्पत्ति आदि सब कुछ यहाँ तक कि अपने प्राण तक, दे सकता हूँ पर राम को नहीं दे सकता। सुनकर विश्वामित्रजी ने कुछ नहीं कहा, पर-

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा।। १/२०७/८

उस समय वशिष्ठजी ने सच्चे गुरु की भूमिका का निर्वाह करते हुए महाराज दशरथ को समझाया।

हमारे शास्त्रों में ऐसा भी वर्णन प्राप्त होता है कि जिसमें कहा गया है कि किस प्रकार के दान से कौन सा फल प्राप्त होता है। यह बात मनुष्य के स्वभाव को दृष्टिगत रखकर ही लिखी गयी है। किसी कंजूस व्यक्ति से दान या चंदा माँगा जाय तो उसे बुरा लगेगा। पर यदि उससे ब्याज पर पैसा माँगा जाय तो वह बड़ी प्रसन्नता से दे देगा। क्योंकि उसे आशा है कि पैसा और अधिक होकर लौटेगा। वशिष्ठजी ने कुछ-कुछ इसी पद्धति से महाराज दशरथ को समझाया। उन्होंने कहा- तुम जानते हो ये कितने बड़े महात्मा हैं। तुम इन्हें देकर तो देखो, इस दान से तो लाभ ही लाभ होगा। गुरु वशिष्ठजी की बात बिलकुल ठीक निकली। भगवान् को कीर्ति मिली, सम्मान मिला और जनकनंदिनी श्री सीताजी से उनका विवाह हुआ। इतना ही नहीं, शेष तीनों भाइयों का विवाह भी इसी माध्यम से सम्पन्न हुआ। दशरथजी ने दो पुत्र ही दिये थे पर जब वे जनकपुर से लौटे तो चार पुत्र और चार बधुओं को साथ लेकर लौटे। दो दिये और लौटे आठ को लकर, इस प्रकार चौगुना लाभ तो हो ही गया।

शास्त्रों में जो यह कहा गया कि दान के बदले फल की प्राप्ति होती है, उसे किसी अन्य दृष्टि से न देखकर इस रूप में देखा जा सकता है कि जैसे जमीन में बीज डालने से वृक्ष बनता है और फिर फल लगते हैं, यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। शास्त्र का विधान व्यक्ति को, यज्ञ को जीवन में स्वाभाविक कर्म के रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा देता है। दान व्यक्ति का सहज कर्म बन जाय, शास्त्र को यही अभीष्ट है।

प्रारंभ में महाराज दशरथ की ममता उन्हें दान देने से रोक रही

थी पर वशिष्ठजी की प्रेरणा से वे इस सद्कार्य के लिये प्रस्तुत हो गये। गुरु के सान्निध्य का यही फल है कि उनके सत्संग के द्वारा व्यक्ति ममता और आसक्ति से मुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है। व्यक्ति के लिये दान देने में ममता का त्याग तो अत्यावश्यक है। जिसे आजतक आप अपनी समझते थे उस वस्तु के प्रति ममता का त्याग किये बिना कैसे उसे किसी को दे सकेंगे? इस संदर्भ में एक बहुत बढ़िया बात कही गयी।

हनुमान्‌जी एक नन्हें से मच्छर का रूप बनाकर लंका में प्रवेश कर रहे थे पर लंकिनी ने उन्हें घुसते हुए देख लिया। लंकावालों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है और दूसरों का दोष देखने में वे विशेष रूप से निपुण होते हैं। अतः जिसे दूसरों में दोष बहुत दिखायी दे, समझ लेना चाहिये कि वह भी लंका का ही निवासी है। बड़ी वस्तु में दोष दिखायी दे जाय, तो यह बात समझ में आती है पर हनुमान्‌जी छोटे से मच्छर के रूप में थे फिर भी लंकिनी ने उन्हें पकड़ लिया। गोस्वामीजी लिखते हैं कि -

मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।।
नाम लंकिनी एक निसिचरी।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी।। ५/३/१,२

लंकिनी कहने लगी- कहाँ जा रहे हो चोरों की तरह? मैं तो तुम्हें खाऊँगी! पर तुम यह न समझना कि भूख के कारण मैं तुम्हें खा रही हूँ। मैं तो सिद्धान्तवादी हूँ और मैंने यह निर्णय किया है कि मैं चोरों का विनाश कर दूँगी-

मोर अहार जहाँ लगि चोरा।

तुम भी एक चोर हो इसलिए मैं तुम्हें खाऊँगी। हनुमान्‌जी ने लंकिनी की बात सुनी तो वे तुरंत छोटे से बड़े बन गये और उसके सिर पर मुक्का मारा। इस प्रहार से वह मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। पर एक अंतर भी दिखायी पड़ा। लोग जब गिरते हैं तो उठ नहीं पाते, पर धन्य हैं वे कि जो गिरने के बाद फिर से उठकर खड़े हो जाते हैं! गोस्वामीजी लिखते हैं कि -

पुनि संभारि उठी सो लंका।

लंकिनी ने अपने आपको सँभाला और उठकर खड़ी हो गयी। हनुमान्‌जी ने उसे उठते देखकर यह नहीं कहा कि अरे! यह उठ गयी। एक मुक्का और लगाता हूँ। उन्होंने सोचा- बस! बहुत हो गया। लंकिनी उठकर हनुमान्‌जी की स्तुति करने लगी। वह कहती है-

तात मोर अति पुन्य बहूता।
देखउँ नयन राम कर दूता।। ५/३/८

मेरा कितना बड़ा पुण्य है कि मैंने राम का दूत के दर्शन प्राप्त किये। मैं तो यही समझती हूँ कि-

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।। ५/४

स्वर्ग और मोक्ष के सुख से भी बड़ा क्षण भर का सत्संग-सुख है।

बड़ा आश्चर्य होता है यह पढ़कर! सत्संग में तो कुछ कथन-श्रवण की बात सामने आती है। पर हनुमान्‌जी ने यहाँ न तो कोई कथा कही, न कोई उपदेश या भाषण दिया, उन्होंने तो बस एक मुक्का भर जमा दिया और लंकिनी कह रही है कि बड़ा अच्छा सत्संग हुआ! पूछा जा सकता है - क्या मुक्केबाजी ही सत्संग है? सचमुच विचारपूर्वक देखने से यह बात ठीक लगती है। यद्यपि सत्संग में मीठी-मीठी और मनोरंजक बातें भी सुनने को मिलती हैं, पर असली सत्संग तो वही है कि जहाँ पर प्रहार हो, मुक्का लगे। सत्संग में संत-महापुरुष, व्यक्ति के सिर पर मुक्का ही तो मारते हैं। अब इसका अर्थ भौतिक प्रहार के रूप में न ले लें। इसका संकेत है कि व्यक्ति के उन विचारों पर प्रहार जो ठीक नहीं है। इस प्रहार के द्वारा व्यक्ति को अपनी भूल का भान कराना ही इसका उद्‌देश्य है। सत्संग के फलस्वरूप, एक तो बुद्धि का दोष मिटता है और दूसरा व्यक्ति का रक्त बाहर निकल जाता है, व्यक्ति रक्त-रहित हो जाता है। इस प्रसंग में इस रक्त बहने का भी एक विशेष अर्थ है।

आप जानते ही हैं कि हम त्यागी-तपस्वी महापुरुषों के लिये बहुधा यही कहते हैं कि ये बड़े विरक्त महात्मा हैं। विरक्त अर्थात्

रक्तरहित। तो क्या ऐसे महात्मा खून से रहित होते हैं? हम कह सकते हैं कि जैसे शरीर में रक्त होता है, उसी प्रकार मन में भी रक्त होता है और उस रक्त का नाम है ममता और राग। व्यक्ति की ममता जब छूट जाती है, संसार के प्रति राग में जब कमी आती है और फिर जब वह सँभलकर खड़ा हो जाता है एवं कष्ट में भी भगवान् की कृपा का दर्शन करने लगता है, तो हम उसे विरक्त कह सकते हैं। जीवन में यदि सब कुछ अच्छा ही अच्छा हो और उसमें भगवान् की कृपा दिखायी दे, ऐसी दृष्टिवाले तो बहुत से लोग मिल जाते हैं। पर गिरने के बाद, चोट लगने और रक्त बहने के बाद भी यदि लगे कि यह भी मेरे पुण्य का फल है, तो फिर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि उसके जीवन में सत्संग सही अर्थों में प्रतिफलित हुआ है। भगवान् राम ने यही बात वाल्मीकिजी से कही थी। उन्होंने कहा-महर्षि! मुझे वनवास इसीलिए मिला है कि मैंने कोई पुण्य किया होगा।"

हनुमान्‌जी का अभिप्राय यह था कि लंकिनी! तेरी बुद्धि में कितना बड़ा भ्रम है कि तू कहती है कि मैं चोरों को खाती हूँ! यदि सचमुच तुमने चोरों को खाने का व्रत लिया होता तो सबसे पहले रावण को खाती! क्योंकि असली चोर तो रावण ही है, जिसने सीताजी को चुराकर लंका में बंदिनी बना रखा है। उसे तो तुम स्वामी मानती हो और मैं उस चोरी का पता लगाने आया हूँ, पर तुम मुझे चोर कह रही हो। पर हनुमान्‌जी के द्वारा उसके सिर पर प्रहार करते ही उसकी बुद्धि ठीक हो गयी और वह हाथ जोड़कर हनुमान्‌जी से कहने लगी- हे तात!-

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।

अब आप नगर में प्रवेश कीजिये। इसे पढ़कर तो यही लगता है कि पहरेदार चोर से मिल गया क्या? पर उसकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो गयी कि उसे इस सत्य का साक्षात्कार हो गया कि लंका का वास्तविक राजा रावण नहीं है। वह हनुमान्‌जी से आगे यही कहती है-

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कोसलपुर राजा।। ५/४/१

अब मैं समझ गयी कि लंका-सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एकमात्र स्वामी तो भगवान् राम ही हैं। आप धन्य हैं कि उनका कार्य करने के

लिये जा रहे हैं।

लगभग मिलते-जुलते, दो शब्द हमारे सामने आते हैं - एक शब्द है लाभ और दूसरा शब्द है लोभ। लाभ की इच्छा तो, व्यक्ति चाहे संसारी हो अथवा महात्मा हो, सबको ही होती है। मानस में इसलिए यह नहीं कहा गया कि लाभ की इच्छा को छोड़ दो, अपितु यह कहा गया कि जो मिल जाय उतने ही लाभ से संतुष्ट हो जाना, यह भक्त का एक लक्षण है। भगवान् राम शबरीजी को नवधाभक्ति का उपदेश देते हुए यही कहते हैं कि -

आठवँ जथा लाभ संतोषा।

इस प्रकार लाभ तो स्वीकार्य है पर लोभ को त्याज्य और निंदनीय माना जाता है। हम जब इसके कारणों पर विचार करते हैं कि ऐसा क्यों होता है? तो सबसे पहले हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि दोनों की शब्द-रचना में भी एक विलक्षणता है।

दोनों शब्दों में जो अक्षर हैं वे एक से ही हैं। लोभ और लाभ दोनों में ही ल और भ अक्षर विद्यमान हैं। पूछा जा सकता है कि दोनों शब्दों की संरचना में समान अक्षर होने पर भी लाभ को प्रशंसनीय और लोभ को निंदनीय क्यों माना जाता है? तो इसका एक बड़ा सुंदर साहित्यिक उत्तर दिया जा सकता है कि दोनों शब्दों में भले ही अक्षरों की दृष्टि से कोई अंतर न हो पर मात्रा का अंतर तो है ही! लाभ शब्द अक्षर ल में आ की मात्रा लगाने के बाद भ से संयुक्त करने पर बनता है। पर लोभ शब्द का निर्माण आ के स्थान पर ओर की मात्रा लगने से होता है। हम देखते हैं कि वर्णमाला में क्रम की दृष्टि से आ की मात्रा प्रारंभिक मात्रा है, पहली मात्रा है। मानो सरलता से जो मिल गया उतनी ही मात्रा से संतोष हो गया। इस बात की ओर यह शब्द संकेत करता है। पर लोभ को आ की मात्रा से ही संतोष नहीं होता अपितु जब मात्रा आ के बाद क्रमशः इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, से बढ़ते-बढ़ते ओ तक पहुँचती है तब कहीं जाकर यह शब्द बनता है। मानो लोभ चाहता है कि लाभ की मात्रा निरंतर बढ़ती ही जाय- और, और, और! और जब यह स्थिति जीवन में आ जाय तब समझना चाहिये कि लाभ लोभ के रूप में परिवर्तित हो गया है। कहा भी गया है कि -

जो दस बीस पचास मिले,
सत होय हजारन लाख मँगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
पृथ्वीपति होन की चाह जगेगी।
स्वर्ग पताल को राज मिले,
तऊ तृष्ना अति आग लगेगी।
सुंदर एक संतोष बिना सठ,
तेरी तो भूख कभी न मिटेगी।।

इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति इस सत्य को हृदयंगम कर ले कि अंततोगत्वा ये सब वस्तुएँ तो छूटनेवाली ही हैं, अतः उनसे धीरे-धीरे ममता को घटाकर उन्हें उचित अधिकारी को सौंप देना ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। पर इसमें यह ध्यान देना भी अत्यावश्यक है कि कहीं हम उचित अधिकारी की खोज में ही न भटक जायँ।

इस संदर्भ में मुझे शाहजहाँपुर के एक परिचित का स्मरण आता है। उनका स्वभाव दान देने का था। पर उनका यह स्वभाव उनके बच्चों को अच्छा नहीं लगता था। वे सोचते थे कि ये तो सब कुछ बाँट दे रहे हैं। सीधे तो वे कह नहीं सकते थे, इसलिए कहा करते थे कि आप बिना सोचे-समझे जिस किसी को दिये चले जाते हैं! एक दिन उन्होंने अपने बच्चों से यही कहा कि तुम लोगों की बात मान लूँ हमको एक आयोग बैठाना पड़ेगा यह पता लगाने के लिये कि कौन अधिकारी है और कौन नहीं है! और तब एक ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि कोई अधिकारी ही न मिल पाये! दान के पात्र की कसौटी को इतनी कड़ी भी मत बनाइये कि कोई अधिकारी पात्र ही न मिले और आपको दान न देना ही ठीक लगने लगे! ऐसी धरणा और ऐसा क्रम ठीक नहीं है।

वशिष्ठजी उस समय सामने आये और उन्होंने दशरथजी को समझाया कि विश्वामित्रजी तो सर्वथा सुपात्र हैं, अतः तुम इन्हें अपने दोनों पुत्रों को समर्पित कर दो! तब महाराज दशरथ ने प्रसन्नतापूर्वक श्रीराम तथा श्रीलक्ष्मणजी को उन्हें सौंप दिया। और कहने लगे -

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।।१/२०७/१०

महाराज! आज से आप इनके पिता हैं। फिर महाराज दशरथ ने सब कुछ महर्षि पर ही छोड़ दिया कि वे दोनों को जहाँ चाहे ले जायें! महाराज दशरथ को पहले उनकी ममता ही दान से रोक रही थी, पर बाद में गुरुदेव के सत्संग के प्रभाव से उनमें दान की वृत्ति जाग्रत् हो गयी। यह प्रक्रिया अयोध्या की है। पर लंका की स्थिति सर्वथा भिन्न है।

रावण के यहाँ इतनी उन्नति हो रही है जिसकी कोई सीमा नहीं है। गोस्वामीजी इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-

सुख संपति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई। १/१७६/१,२

लंका में सुख, संपत्ति, पुत्र, कीर्ति, बल, बुद्धि आदि में नित्यप्रति वृद्धि हो रही है। अब आप उन्नति को मापदण्ड नहीं बनाइये कि यह पुण्य का फल है, क्योंकि उन्नति अयोध्या में ही नहीं, लंका में भी तो होती दिखायी देती है। पर इस उन्नति के बाद भी रावण को वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं हो रही है, क्योंकि इस उन्नति के साथ-साथ रावण का लोभ भी निरंतर बढ़ता ही जा रहा है-

नित नूतन सब बाढ़त जाई।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।। १/१७६/१,२

इस तरह रावण के जीवन में लाभ संतोष प्रदान करने के स्थान पर लोभ की दिशा में चला गया। रावण के जीवन में लोभ की पराकाष्ठा दिखायी देती है। संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरियों को अपने महल में एकत्रित करने के बाद भी रावण चोर की भाँति श्री सीताजी का हरण करने के लिये जाता है। साधारण व्यक्ति के द्वारा की गयी चोरी तो समझ में आती है, कि अभाव के कारण चोरी की गयी, पर त्रैलोक्य-विजेता लंकेश्वर जब नकली साधु का वेष बनाकर चोरी करने के लिये जाता है, तो उसकी यह वृत्ति लाभ के साथ-साथ लोभ की वृद्धि का ही परिचायक है। इसीलिए दान का बहुत बड़ा महत्त्व है। लोभ कम करने का यही उपाय है कि आपने जो लाभ प्राप्त किया है, उसका उपयोग केवल अपने लिये ही न करके उसे अन्य लोगों को दें, बाँटें और इस

प्रकार समाज और व्यक्ति के कल्याण की भावना से सबको उस लाभ में सम्मिलित करें।

'दान' देने में भी एक क्रम है। सबसे पहले आप वस्तु का दान देते हैं। फिर उसके बाद उस वस्तु में जो आपकी ममता है उसे भी हटा लेते हैं, अर्थात् ममता का भी दान कर देते हैं और इसके पश्चात् मैं दान देने वाला हूँ, इस अहंता का दान कर देते हैं। इस प्रकार ममता और अहंता के त्याग के द्वारा जब सार्थक दान की प्रक्रिया पूरी होती है तब वह दान व्यक्ति और समाज के लिये कल्याणकारी बन जाता है।

भगवान् राम के विवाह में महाराज जनक ने बहुत अधिक दहेज दिया। गोस्वामीजी ने इसका विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा कि बहुत बड़ी संख्या में घोड़े, हाथी, रथ तथा बड़ी मात्रा में मणि-माणिक्य, स्वर्ण, वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ दहेज के रूप में प्रभु को महाराज जनक के द्वारा दी गयीं। इसे पढ़कर, आज भी, स्वार्थी लोग अपने पक्ष की बात ढूँढ़कर यही कहते हैं कि देखो! दहेज की प्रथा तो कितनी पुरानी है, वह तो रामायण काल में भी थी इसलिए हमारी दहेज की माँग तो रामायण के अनुकूल ही है। कुछ लोगों को रामायण के अन्य कोई प्रसंग भले ही याद न हों, पर ऐसे प्रसंग अवश्य याद रहते हैं। पर मैं यही कहता हूँ कि ठीक है, दहेज की परंपरा बड़ी पुरानी है, रामायण में इसका वर्णन है, पर रामायण में ही इसके आगे जो लिखा हुआ है उसे भी तो पढ़िये! गोस्वामीजी लिखते हैं कि जो वस्तुएँ दहेज में प्राप्त हुईं, उन्हें महाराज दशरथ ने अपने पास नहीं रखा, अपितु -

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा।

उन्होंने याचकों को बुलाया और बड़ी प्रसन्नता से कह दिया कि जिसे जो चाहिये वह ले ले। और फिर उसके बाद -

उबरा सो जनवासेहिं आवा।। १/३२५/७

जो कुछ बच गया उसे ही उन्होंने स्वीकार किया। अब, रामायण में दहेज की बात है तो उसे उसी रूप में पूरी तरह स्वीकार करें, तब तो ठीक भी है। इसलिए गोस्वामीजी ने एक मीठा बिनोद भी किया। वे कहते हैं कि जब जनकजी ने देखा कि दशरथ जी ने तो सब कुछ बाँट दिया इसलिए दूसरी बार उन्होंने दहेज की सारी सामग्री सीधे

अयोध्या ही भिजवा दी। उन्हें लगा कि यहाँ देने पर तो वे फिर बाँटकर चले जायेंगे। गोस्वामीजी कहते हैं -

जनक अवधपुर दीन्ह पठाई। १/३३३/१

इसका अर्थ है कि यह संसार तो आदान-प्रदान ही है। आप यदि लेते हैं तो देना आपकी बाध्यता है और इस देने के क्रम को आप जितना ही पवित्र बनायेंगे, उतनी ही ऊँची स्थिति जीवन में आती जायगी। इसलिए दान की प्रक्रिया को शुद्ध अंतःकरण से संपन्न करना चाहिये बुद्धि-चातुर्य का आश्रय लेकर नहीं।

एक व्यंग्यात्मक प्रसंग आता है कि एक सेठजी, एक बार किसी सत्संग में पहुँच गये। दान की व्याख्या करते हुए वहाँ कहा गया कि नाम की इच्छा न रखकर दिया जाने वाला दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है, अतः अपना नाम छिपाकर ही दान देना चाहिये। उन्होंने भी यह बात सुनी और लौटकर घर आ गये। संयोगवश, उन्हें सत्संगी जानकर, एक संस्था के कुछ लोग उनके पास संस्था-हेतु कुछ दान लेने पहुँच गये। सेठजी ने तत्काल बड़ी प्रसन्नता से उन्हें कई लाख रुपयों का एक चेक काटकर दे दिया। उन लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ! इतना कृपण व्यक्ति एकाएक इतना उदार कैसे हो गया? इसे सत्संग का ही प्रभाव मानकर वे सब प्रसन्न हो गये। पर जब चेक को हाथ में लेकर उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा तो पता चला कि सेठजी ने उस पर हस्ताक्षर ही नहीं किये हैं। इसका कारण पूछने पर सेठजी ने कहा- भाई! सत्संग में तो यही कहा गया था कि नाम के लिये दान नहीं देना चाहिये, अपना नाम छिपाकर दिया गया दान ही सबसे अच्छा होता है, इसलिए मैंने अपने हस्ताक्षर नहीं किये, क्योंकि हस्ताक्षर करते ही मेरा नाम प्रकट हो जायगा। अब यह तो चालाकी है, दान तो है ही नहीं! रामायण में बताया गया है कि भगवान् राम किस तरह से दान देते हैं।

विभीषणजी जिस समय भगवान् राम के पास आये, उस काल में प्रभु वनवासी जीवन व्यतीत कर रहे थे। वे कंद-मूल फल का भोजन करते थे और वृक्ष के नीचे कुश के आसन पर विश्राम-शयन करते थे। पर उस समय ऐसी स्थिति में रहते हुए भी, जब विभीषण जी आये तो प्रभु ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा -

कहु लंकेस सहित परिवारा।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा।। ५/४५/४

हे लंका के राजा! आप सपरिवार कुशल से तो हैं न! प्रभु का लंकेश संबोधन सुनकर विभीषणजी सकुचा गये और सोचने लगे कि मेरे मन में राज्य की जो वासना थी, प्रभु से वह छिपी नहीं रह सकी, उन्होंने तो पहचान लिया! इसीलिए तो प्रभु ने उसकी पूर्ति के लिये मुझे लंकेश बना दिया। विभीषणजी कहने लगे - महाराज! मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पहले मेरे मन में यह इच्छा तो थी पर अब बिलकुल नहीं है -

उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।। ५/४८/६

प्रभु ने कहा - मित्र! क्या तुम यह समझते हो कि मैं इसलिए दान दे रहा हूँ कि लंका के राज्य की तुम्हें कोई इच्छा थी? नहीं, नहीं ऐसी बात नहीं है। आप प्रभु की दानशीलता देखिये! दान देनेवाला व्यक्ति यही समझता है कि मैं दान देनेवाला हूँ और मेरे सामने जो माँगनेवाला खड़ा है, उसकी इच्छापूर्ति करके बहुत बड़ा कार्य कर रहा हूँ। पर भगवान् राम ने कहा - मित्र मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम्हारे भीतर कोई इच्छा नहीं है, क्योंकि यदि तुम्हें राज्य की इच्छा होती तो यहाँ क्यों आते? तुम वहाँ पर राज्य ही तो कर रहे थे।"

तो फिर महाराज! आप क्यों दे रहे हैं? विभीषणजी ने आश्चर्य से पूछा! भगवान् राम का शील देखिये! वे कहते हैं- मित्र! तुम भले ही इच्छाओं से ऊपर उठ गये हो, पर मैं तो नहीं उठा हूँ।

महाराज! इच्छावाला भी देता है क्या?

देखो भाई! जिसकी धन की इच्छा होती है उसकी बात तो नहीं कहता, पर धन से भी बड़ी इच्छा होती है यश और कीर्ति पाने की इच्छा। व्यक्ति यश पाने के लिये धन देने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता। मेरे बारे में भी ऐसा प्रचार हो गया है कि जब कोई भी राम के पास जाता है तो राम उसे जरूर देते हैं। अब ऐसी स्थिति में यदि तुम लंका का राज्य स्वीकार नहीं करोगे, तब तो मेरा यश ही नष्ट हो जायगा। मित्र! मैं जानता हूँ कि तुम्हें आवश्यकता नहीं है, पर मेरे यश की रक्षा के लिये तुम कृपापूर्वक इसे स्वीकार कर लो! गोस्वामीजी लिखते हैं कि-

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।
मोर दरस अमोघ जग माहीं।।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
सुमन बृष्टि नभ भई अपारा।। ५/४८/६,१०

इस दान पर मुग्ध होकर देवतागण भगवान् राम पर फूलों की वर्षा करने लगे।

संसार में बहुधा यह देखा जाता है कि थोड़ा-सा दान देने पर ही व्यक्ति का सिर उठ जाता है, पर यहाँ तो स्थिति सर्वथा उल्टी दिखायी देती है। जिस समय प्रभु ने विभीषणजी को तिलक किया उस समय गोस्वामीजी यह लिखना नहीं भूलते कि-

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।
५/४६-ख

प्रभु को बड़ा संकोच हो रहा है- अरे! मैंने इन्हें कुछ भी तो नहीं दिया! विभीषणजी रावण के छोटे भाई ही तो हैं, इसलिए लंका का राज्य इनका है ही! मुझे तो व्यर्थ में ही दाता का श्रेय रहा है। मैं दाता कहाँ से हो गया? इस प्रकार यह अहं से मुक्त दान श्रेष्ठतम दान का एक उदाहरण है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि दान की कई कक्षाएँ हैं। वस्तु का दान, दान की पहली सीढ़ी है। दान में दी गयी वस्तु से अपनी ममता को हटा लेना, यह दान की और ऊँची स्थिति है और इस क्रम में जब दान का अहं भी छूट जाय तो यह सबसे ऊँची स्थिति कही जाती है। इसलिए बलि की यज्ञशाला में भगवान् ने सब कुछ दान में लेकर भी बलि को बाँध दिया, और जब बलि ने कहा - महाराज! अब तो कोई वस्तु नहीं बची है, केवल मैं ही बचा हूँ, अतः आप मुझे ही नाप लीजिये! तो भगवान् ने बलि की बात सुनकर तुरंत कहा- बस! अब तुम्हारा दान पूरा हो गया। भगवान् का तात्पर्य है कि सब कुछ देने पर भी यदि मैं का दान नहीं दिया गया तो वह अधूरा रह जाता है। वर्णन आता है कि दान की पूर्णता के बाद भगवान् स्वयं ही बलि के ऋणी हो गये।

भगवान् ने बलि से कहा - बलि! मैं स्वर्गलोक तो इन्द्र को दे रहा हूँ और तुम्हें पाताल में भेज रहा हूँ। इस समय अब तुम भी मुझसे कुछ माँग लो। बलि ने उस समय बड़ी मीठी बात कही। उसने कहा- प्रभु! आप ऐसी कृपा कीजिये कि मुझे निरंतर आपका दर्शन होता रहे। यह तो बड़ी अच्छी बात है कि हम कहीं भी रहें, चाहे उच्च स्थिति में रहें या नीची स्थिति में रहें, पर ईश्वर के दर्शन हर स्थिति में हमें होते रहें, ईश्वर हमारे साथ रहें। बलि की माँग को भगवान् ने इस रूप में पूरा किया कि वे पाताल लोक में किसी मंदिर-विशेष में न रहकर बलि के द्वारपाल बन गये। बलि को अहंकार के दान का कैसा दुर्लभ फल मिला! क्योंकि जब ईश्वर स्वयं ही द्वारपाल बन जाय, तब तो किसी भी दुर्गुण में यह साहस नहीं हो सकता कि वह व्यक्ति के जीवन में भीतर बैठ सके।

धर्म के चार पद बताये गये हैं - सत्य, तप, दान और दया। चारों की प्रशंसा की गयी है पर सबसे अधिक महत्ता, इस युग में दान की ही बतायी गयी है-

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।

और वह पद कौन-सा है, यह बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि-

दान करइ कल्यान

पूछा जा सकता है कि महाराज! कैसे दान देना चाहिये? महाराज दशरथ की तरह या महाराज जनक की तरह अथवा राजा बलि की तरह? गोस्वामीजी इसका भी उत्तर देते हुए कहते हैं - भाई! तुम यह सब मत देखो, तुम तो बस-

जेने केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।।७/१०३-ख

चाहे जिस प्रकार से भी हो सके, दान करो! डर से दो, लोभ से दो, या अन्य किसी भी कारण से दान करो, परिणाम कल्याणप्रद ही है। तो फिर ऐसी स्थिति में देने की इस क्रिया में, इस दान-यज्ञ में आनन्द लेकर, लोक-कल्याण की भावना से इसे संपन्न करना ही हमारे जीवन में आनेवाले लोभ को कम करने का सबसे अच्छा उपाय है। दान ही लोभ पर विजय प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है, यह शास्त्र और अनुभव

दोनों से ही सिद्ध होता है।

दान के इस प्रसंग की व्याख्या तो कई दिनों में भी पूरी नहीं हो सकती। पर संक्षेप में, मूल तत्त्व यह है कि दान की वृत्ति के उदय होने पर मनुष्य लोक-कल्याण के लिये सुख बाँटना सीखता है और तब उस दान के परिणाम में उसके जीवन में भी सुख, समृद्धि, यश, शान्ति और आनंद की वृद्धि होती है।

तुलसी से युगतुलसी तक

"युग तुलसी" परमपूज्य श्री रामकिंकर जी महाराज भक्त समुदाय में, विद्वत् वृन्द में, संत समाज में और रामकथा के प्रचार–प्रसार कर्त्ताओं में समान रूप से परम वन्दनीय माने जाते हैं। आज महाराजश्री के भाष्य को परम आधार के रूप में स्वीकार करके गोस्वामी तुलसीदास का दावा "श्रीरामचरितमानस छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस" अर्थात् षड् शास्त्र, वेद, पुराण का निचोड़ श्रीरामचरितमानस है, यह "युगतुलसी" के भाष्य द्वारा प्रमाणित एवं सिद्ध हो गया है।

महाराजश्री का भाष्य इसीलिए "सर्वजनसुखाय" है, कि उनकी व्याख्याओं में भेद बुद्धि का सर्वथा अभाव है। चाहे शैव या वैष्णव हों, शाक्त हों या गणेश जी के आराधक हों, सबको महाराजश्री की मीमान्सा में आनन्दानुभूति होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी के वास्तविक ग्रन्थ का निरूपण करते हुए परमपूज्य महाराजश्री सबको अपने इष्टदेव की भक्ति का अमृतपान कराते हुए हमें आकण्ठ संतृप्त कर देते हैं। फलतः एक बड़ी धार्मिक विसंगति से उत्पन्न संघर्ष का समाधान भी होता है जिसके कारण साम्प्रदायिक विरोधों का निर्मूलन हो जाता है। आप आलोचना एवं प्रत्यालोना के प्रपंच से पूर्णतः मुक्त हैं।

पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं साधन है। श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता एवं विनय–पत्रिका पर आधारित अब तक आपके 90 से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

जिस प्रकार से निर्गुण, ब्रह्म और सगुण ईश्वर में एक तारतम्य है उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी और परमपूज्य महाराजश्री में एकसूत्रता है।

–मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी